कल्याण

वर्ष ४८] *

* [अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण १,६२,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५२००, अप्रैल, १९७४

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री; सह-सम्पादक—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस गोरखपुर

'मानस'के वक्ता और श्रोता—श्रीशिव-पार्वती

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

यं निर्जरासुरनरा अखिलार्थसिद्ध्यै भूयन्तरायहतयेऽनुदिनं नमन्ति ।
तं भक्तकामपरिपूरणकल्पवृक्षं भक्त्या गणेशमखिलार्थदमानतोऽस्मि ॥

वर्ष ४८ | गोरखपुर, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५२००, अप्रैल, १९७४ | संख्या ४ पूर्ण-संख्या ५६९

श्रीशिवका शिवाके प्रति 'मानस'-माहात्म्य-कथन

रामकथा सुरधेनु सम सेवत सब सुख दानि।
सत समाज सुरलोक सब को न सुनै अस जानि ॥
रामकथा सुंदर कर तारी। संसय बिहग उड़ावनिहारी ॥
रामकथा कलि बिटप कुठारी। सादर सुनु गिरिराजकुमारी ॥
राम नाम गुन चरित सुहाए। जनम करम अगनित श्रुति गाए ॥
जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना ॥
तदपि जथा श्रुत जसि मति मोरी। कहिहउँ देखि प्रीति अति तोरी ॥
उमा प्रस्न तव सहज सुहाई। सुखद संतसंमत मोहि भाई ॥

(मानस, बालकाण्ड ११३ । १-३)

कल्याण

कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें अर्जुनको गीता-ज्ञानका उपदेश देते हुए भगवान् श्रीकृष्णने विस्तारसे समझाया कि किस प्रकार आसुरी-सम्पदासे अभिभूत व्यक्ति इस लोकमें नाना प्रकारके कष्ट भोगते हैं और अन्तमें भगवान्‌को न पाकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते तथा घोर नरकोंमें पड़ते हैं। इसके पश्चात् समस्त दुर्गतियोंके प्रधान कारणरूप आसुरी सम्पत्तिके प्रमुख त्रिविध दोषोंको स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥
(१६। २१)

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका पतन करनेवाले हैं—उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव बुद्धिमान् व्यक्तिको चाहिये कि इन तीनोंका परित्याग करे।'

भगवान्‌के इन वचनोंपर हमें ध्यान देना चाहिये। वास्तवमें नरकके तीनों द्वारोंका मूल है—भोगासक्ति। जबतक भोगासक्ति बनी रहती है, तबतक इन तीनोंका विनाश होता नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। भोगासक्तिके विनाशके सम्बन्धमें चक्रवर्ती सम्राट् ययातिका अनुभव हमारे लिये सही मार्गदर्शक बन सकता है। ययाति एक हजार वर्षतक अपनी उच्छृङ्खल इन्द्रियोंके साथ मनको जोड़कर उसके प्रिय विषयोंको भोगते रहे; परंतु इतना करनेपर भी उनकी भोगोंसे तृप्ति न हो सकी—भोगासक्तिका शमन नहीं हुआ; प्रत्युत वह निरन्तर पुष्ट होती गयी। भगवान्‌की कृपासे एक दिन उन्हें अपने अधःपतनका बोध हुआ और वे हठात् चौंक पड़े। उनमें वैराग्यका उदय हो आया। पत्नीसे अपने जीवनका कटु अनुभव बताते हुए वे बोले—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
(श्रीमद्भा० ९। १९। १४)

'विषयोंके भोगनेसे भोग-वासना कभी शान्त नहीं हो सकती; बल्कि जैसे आगमें घीकी आहुति डालनेपर वह और भड़क उठती है, वैसे ही भोग-वासनाएँ भी भोगोंके उपभोगसे प्रबल हो जाती हैं।'

सचमुच भोगासक्ति इतनी प्रबल है कि उससे पार पाना अपनी शक्तिसे सम्भव नहीं है। अपनी शक्तिका आश्रय पकड़कर जैसे-जैसे व्यक्ति भोगासक्तिके विनाशका प्रयत्न करता है, वैसे-वैसे वह और भी विकराल रूप धारण करती चलती है। हम भी अपने जीवनमें बराबर इसका अनुभव कर सकते हैं। भोगासक्तिरूपी प्रबल घाटीसे पार होनेके लिये शास्त्रोंमें अनेक उपाय बतलाये गये हैं, जैसे—शास्त्रोंका श्रवण-पठन, सदाचारका पालन, त्याग, वैराग्य, सत्सङ्ग-सेवन आदि। ये सभी साधन उत्तम हैं; इनका आचरण करना ही चाहिये, परंतु मेरी समझसे सर्वोत्तम उपाय है—भगवान्‌के शरणापन्न हो जाना। भगवान्‌के स्वरूपमें, भगवान्‌की दयालुतामें, उनके कारुण्यमें, सौशील्यमें, औदार्यमें, पतितपावनतामें विश्वास करके हम भगवान्‌की शरण ग्रहण कर लें। हम निरुपाय हैं, साधनहीन हैं, दीन हैं, मलिन हैं, पापकर्मा हैं—इससे घबराना नहीं चाहिये। अपना सम्पूर्ण दैन्य लेकर, अपनी सम्पूर्ण मलिनताको लेकर हम उन दीनबन्धु—पतितपावनको पुकारें—अन्तर्हृदयसे पुकारें; बस, हमारा काम बन जायगा। भगवान्‌की यह प्रतिज्ञा है—'जो मुझपर विश्वास करके, शरण्यताका भाग किसी दूसरेको न देकर—एकमात्र मुझे ही शरण्य मानकर पुकार उठता है—'भजते मामनन्यभाक्'—उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, वह बहुत शीघ्र धर्मात्मा बन जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है—

'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।'
(गीता ९। ३१)

'भाईजी'

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

अनन्त महिमामय श्रीभगवन्नामका आश्रय ग्रहण करें

श्रीभगवान्‌के नामकी महिमा अनन्त है और वह बड़ी ही रहस्यमयी है। शेष, महेश, गणेशकी तो बात ही क्या, स्वयं भगवान् भी अपने नामकी महिमा नहीं गा सकते—'रामु न सकहिं नाम गुन गाई'।

भगवन्नामकी महिमा सभी युगोंमें सदा ही सब साधनोंसे अधिक है, परंतु कलियुगमें तो नामकी महिमा सर्वोपरि है—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥
(विष्णुपु० ६।२।१७)

'सत्ययुगमें ध्यान, त्रेतामें यज्ञ तथा द्वापरमें पूजा करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वही फल कलियुगमें केवल श्रीकेशवके कीर्तनसे मनुष्य प्राप्त कर लेता है।'

श्रीनारदपुराणमें तो यहाँतक कहा गया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
(१।४१।११५)

'कलियुगमें केवल श्रीहरिका नाम ही—हरिका नाम ही—हरिका नाम ही परम कल्याण करनेवाला है; इसको छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं है, नहीं है, नहीं ही है।'

इसका यही अभिप्राय है कि कर्म, योग, ज्ञान आदि साधनोंका साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न होना इस युगमें अत्यन्त ही कठिन है। फिर भगवन्नाम बड़ा ही सुगम साधन है। इसके सभी अधिकारी हैं, सभी इसको समझ सकते हैं। यह सबको सुलभ है। मूर्ख-से-मूर्ख मनुष्य भी नामका जप-कीर्तन कर सकते हैं। इसमें न कोई खर्च है न परिश्रम। किसी प्रकारकी बाधा भी नहीं है। इतनी सुगमता होनेके साथ ही सबसे बड़ी बात यह है कि इसके उच्चारणमें किसी प्रकारकी शर्त भी नहीं है—

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥
(श्रीमद्भा० ६।२।१४-१५)

"पुत्रादिके संकेतसे हो, हँसीसे हो, स्तोभसे (गीतका आलाप पूर्ण करनेके लिये) हो अथवा अवहेलना या अवज्ञासे हो, वैकुण्ठभगवान्‌का नामोच्चारण सम्पूर्ण पापोंका नाश कर देता है, ऐसा संत-जन जानते-मानते हैं। जो मनुष्य ऊँचे स्थानसे गिरते समय, मार्गमें पैर फिसल जानेपर, अङ्ग-भङ्ग हो जानेपर, सर्पादिद्वारा डसे जानेपर, ज्वरादिसे तप्त होनेपर अथवा युद्धादिमें घायल होनेपर विवश होकर भी 'हरि' (इतना ही) कहता है, वह नरकादि किसी भी यातनाको नहीं प्राप्त होता।"

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्वृकैरिव॥
(विष्णुपु० ६।८।१०)

'विवश होकर भी जिस हरिके नामका कीर्तन करनेपर मनुष्यको सम्पूर्ण पातक उसी तरह छोड़ देते हैं, जैसे सिंहसे डरे हुए भेड़िये अपने शिकारको छोड़कर भाग जाते हैं।'

गोस्वामीजी महाराजने 'रामचरितमानस'में कहा है—
'भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥'

प्रश्न—यदि ऐसी ही बात है कि किसी प्रकारसे भी नाम लेनेपर पापोंका नाश होकर भगवत्प्राप्ति हो जाती

है, तब श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभाव आदिकी शर्तें क्यों लगायी जाती हैं ?

उत्तर—श्रद्धा आदिकी शर्तें शीघ्र प्राप्तिके लिये हैं। प्राप्ति तो नाम लेनेवाले सभीको होगी, परंतु जो श्रद्धा, प्रेम तथा निष्कामभावसे नाम जपेगा, उसको बहुत शीघ्र प्राप्ति होगी। मनुमहाराजने कहा है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
(मनुस्मृति २।८५)

'दर्श-पौर्णमासादि विधियज्ञोंसे साधारण (जोर-जोरसे किया जानेवाला) जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशु सौगुना श्रेष्ठ है और मानस-जप हजारगुना श्रेष्ठ है।' और जो जप केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे प्रेम और श्रद्धापूर्वक किया जाता है, उसका फल तो अनन्तगुना श्रेष्ठ है। उसकी तो कोई सीमा ही नहीं है। यहाँतक कि यदि मनुष्य भगवान्के अनन्य प्रेममें विह्वल होकर एक बार भी भगवान्का नामोच्चारण कर लेता है तो श्रीभगवान् तुरंत ही वहाँ प्रकट होकर उसे दर्शन दे सकते हैं।

प्र०—अपनी समझसे तो लोग प्रेमपूर्वक ही भगवान्के नामका जप करते हैं, फिर भी भगवान्के दर्शन नहीं होते; इसमें क्या कारण है ? यदि प्रेमकी कमी ही इसका कारण माना जाय तो फिर उस कमीकी पूर्ति कैसे होगी ?

उ०—प्रेम-भावनासे जप करते-करते ही उस प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है, जिसमें विह्वल होकर एक बार भी नामोच्चारण करनेसे भगवान् दर्शन दे सकते हैं।

प्र०—ऐसे सकाम प्रेमसे भगवान् प्रकट हो सकते हैं या निष्कामसे ?

उ०—प्रेमका बाहुल्य हो तो सकामसे भी भगवान् प्रकट हो सकते हैं; परंतु वह सकाम प्रेम भी द्रौपदी या गजेन्द्रका-सा अनन्य होना चाहिये। जब सकाम प्रेमसे भगवान् प्रकट हो सकते हैं, तब निष्कामके लिये तो कहना ही क्या है ?

प्र०—नामके सम्बन्धमें ऐसा श्लोक मिलता है—

नाम्नोऽस्य यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।
तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः॥

'श्रीहरिके नाममें पापनाश करनेकी जितनी शक्ति है, उतने पाप पापीलोग कर ही नहीं सकते।' और इसमें मानस नाम-जपकी या प्रेमपूर्वक जपकी कोई शर्त भी नहीं है। फिर पापोंका नाश होता क्यों नहीं दीखता।

उ०—नाम-महिमामें विश्वास नहीं है और नामापराधयुक्त नाम-जप होता है। नामके दस अपराध हैं। उन अपराधोंसे युक्त जप होनेसे जपका बहुत-सा अंश उन अपराधोंके नाशमें ही लग जाता है। तथापि यदि मनुष्य विश्वासपूर्वक नाम-जप करता रहे तो जप करते-करते नामापराधोंका भी नाश हो सकता है और सारे पाप नष्ट होकर भगवत्प्राप्ति भी हो सकती है।

प्र०—एक मनुष्य मृत्युकालमें भगवान्के नामका उच्चारण तो करता है, परंतु भगवान्के स्वरूपका ध्यान नहीं करता। ऐसी अवस्थामें उसे दूसरे जन्ममें नामकी प्राप्ति होगी—स्वरूपकी तो होगी नहीं। फिर अन्तकालके नामोच्चारणसे मुक्तिका होना कैसे माना जाता है ?

उ०—भगवान् नामके अधीन हैं। नाममें यह शक्ति है कि वह नामी—भगवान्का साक्षात्कार करा देता है। इसलिये मुक्ति प्राप्त होनेमें कोई भी अड़चन नहीं है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुने कहा है—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥
(शिक्षाष्टक २)

'हे भगवन्! आपने अपने अनेकों नाम प्रकाशित किये और उनमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति अर्पित कर दी। नाम-स्मरणमें काल (अवस्था और अधिकार आदि) का भी कोई नियम नहीं रखा। आपकी तो ऐसी असीम कृपा और मेरा ऐसा दुर्भाग्य कि नाममें मेरा अनुराग ही नहीं हुआ।'

प्र०—शास्त्र तो कहते हैं कि **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः—** ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती।' फिर नाम-जपसे मुक्तिका होना कैसे माना जाय?

उ०—नामी—भगवान्‌को यथार्थ तत्त्वसे जान लेना, अर्थात् भगवान् जैसे हैं, वैसे ही उनको जान लेना 'ज्ञान' है और नामीको यथार्थ तत्त्वसे जना देनेकी नाममें शक्ति है। फिर मुक्ति होनेमें क्या संदेह रहा?

प्र०—स्नानादि करके अच्छी तरह पवित्र होकर विधिपूर्वक नाम-जप करना चाहिये या विधि-अविधिकी कुछ भी परवा न करके? इसी प्रकार नाम-जप नियत संख्यामें करना चाहिये या जितना मन हो उतना ही?

उ०—भगवान्‌के नामकी यह महिमा है कि उसे कोई किसी प्रकार भी क्यों न ले, उसका फल होता ही है। तैयार खेतमें चाहे जैसे भी बीज डाल दिये जायँ, वे उगते ही हैं। परंतु विधिपूर्वक जप करनेका विशेष महत्त्व है। यही बात संख्याके सम्बन्धमें जाननी चाहिये। विधिपूर्वक और संख्यायुक्त जप करनेसे जपका यथार्थ आदर-सत्कार होता है और सत्कारपूर्वक किया हुआ साधन विशेष फलदायक होता ही है। विधि और संख्याका नियम होनेसे ठीक समयपर उतना जप हो ही जाता है। जो विधि या संख्याका बन्धन नहीं मानते, वे भूलसे जप छोड़ भी देते हैं। अवश्य ही स्वाभाविक ही जिनके द्वारा आठों पहर नाम-जप होता है, उनके लिये कोई विधि नहीं है।

प्र०—महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्। ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥

(योगसूत्र १। २७—२९)

'उस परमात्माका वाचक (नाम) ओंकार है। उसके नामका जप और उसके अर्थकी भावना यानी स्वरूपका चिन्तन करना। ऐसा करनेसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है।'

परंतु जब केवल नाम-जपसे ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है, तब अर्थसहित जपकी क्या आवश्यकता है?

उ०—जप अर्थसहित करनेसे बहुत शीघ्र लाभ होता है। जैसे किसी हौजमें दो नलोंसे जल आ सकता है। परंतु उनमें एक खुला है, दूसरा बंद है। एक नलसे आनेवाले जलसे हौज दो घंटेमें भरता है, पर यदि दूसरा नल खोल दिया जाय तो वह दो घंटेके बदले एक ही घंटेमें भर सकता है, इसी प्रकार अर्थसहित जप करनेसे शीघ्र लाभ हो जाता है।

प्र०—वेद, उपनिषद् और गीतामें प्रणव (ॐ) की महिमा बहुत मिलती है। क्या भगवान्‌के अन्य नामोंकी भी ऐसी ही महिमा है?

उ०—भगवान्‌के सभी नाम परम कल्याणकारक हैं। राम, कृष्ण, हरि, नारायण, दामोदर, शिव, शंकर आदि नामोंकी तो बात ही क्या है, अन्यधर्मीय लोगोंके अल्लाह, खुदा आदि नामोंकी भी बड़ी महिमा है। भगवान्‌को कोई किसी भी नामसे पुकारे, वे सबकी भाषा समझते हैं। पुकारनेवालेके ध्यानमें यह बात होनी चाहिये कि वह भगवान्‌को पुकार रहा है; फिर नाम चाहे कोई भी हो। अप्, जल, पानी, नीर, वाटर आदि किसी भी नामसे पुकारे, उसे जल ही मिलता है। इसी प्रकार भगवान्‌के नामोंको समझना चाहिये। इतना होनेपर भी जप करनेवाले साधककी जिस नाममें विशेष रुचि, प्रेम और विश्वास होता है, उसके लिये वही विशेष लाभप्रद होता

है। राम और कृष्ण नाममें कोई अन्तर नहीं; परंतु तुलसीदासजीको 'राम' नाम प्यारा था और सूरदासजीको 'कृष्ण' नाम। श्रद्धा और प्रेमके तारतम्यके अनुसार ही नामका फल भी न्यूनाधिक होता है।

नामकी महिमा सभी शास्त्रोंमें गायी गयी है। जिसको जिस नाममें प्रेम हो, वह उसी नामका जप-कीर्तन कर सकता है। न जपनेवालेकी अपेक्षा तो वह भी बहुत श्रेष्ठ है, जो दुःखनाश, भोगोंकी प्राप्ति और मान-बड़ाई आदिके लिये नाम-जप करता है। परंतु नामके बदलेमें जो उपर्युक्त लौकिक फल चाहता है, वह है बड़ी ही भूलमें। वास्तवमें वह ठगा ही जाता है। भगवान्‌के जिस एक नामके सामने तीनों लोकोंका सम्पूर्ण ऐश्वर्य भी कुछ नहीं, उस नामको तुच्छ विषयोंके बदले गवाँ देना बुद्धिमानी नहीं है। तीनों लोकोंका राज्य अनित्य है, भगवान्‌के नामका फल नित्य है। नाम-जपका फल तो भगवत्प्राप्ति ही है। कुछ प्रेमी महात्मा तो ऐसे होते हैं, जो नाम-जप केवल नाम-जपके लिये ही करते हैं। वे भगवत्प्राप्तिरूप फल भी नहीं चाहते। अतएव भगवान्‌के किसी भी नामका जप किया जाय, सभी नाम मङ्गलमय हैं; पर निष्काम तथा प्रेमभावसे जपनेका विशेष महत्त्व है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें सब यज्ञोंसे ज्ञानयज्ञको श्रेष्ठ बतलाया है—

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥
(४। ३३)

'हे अर्जुन! सांसारिक वस्तुओंसे सिद्ध होनेवाले द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानरूप यज्ञ सब प्रकारसे श्रेष्ठ है; क्योंकि हे पार्थ! सम्पूर्ण यावन्मात्र कर्म ज्ञानमें ही शेष होते हैं, अर्थात् ज्ञान ही उनकी पराकाष्ठा है।'

इस प्रकार ज्ञानयज्ञको सबसे श्रेष्ठ बतलाया, परंतु उसे अपना स्वरूप नहीं बतलाया। किंतु जपयज्ञको तो 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (गीता १०। २५) कहकर यही कह दिया है कि 'यज्ञोंमें जपयज्ञ तो मैं ही हूँ।'

अत भगवान्‌के किसी भी नामका जप, किसी भी कालमें, किसी भी निमित्तसे, किसीके भी द्वारा, कैसे भी किया जाय, वह परम कल्याण करनेवाला ही है। फिर जो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अर्थसहित निष्कामभावसे और गुप्तरूपसे नाम-जप किया जाता है, वह तो उसी क्षण परम कल्याणरूप फल देनेवाला होता है। भगवत्प्राप्ति तो किसी प्रकार भी नाम-जप करनेसे हो जाती है, परंतु वह कालान्तरमें होती है। हाँ, अन्त समयके लिये कोई शर्त नहीं है। भगवान् परम दयालु हैं; उन्होंने दया करके ही जीवको यह मोक्षोपयोगी मनुष्य-शरीर दिया है और उन्हीं दयामयने यह विधान भी कर दिया है कि 'अन्तकालमें किसी प्रकार भी जो मेरा नाम-स्मरण कर लेगा, उसे मेरी प्राप्ति हो जायगी।' किसीको फाँसीकी आज्ञा होनेपर जब साधारण राजनियमके अनुसार भी मृत्युसे पहले उस मनुष्यकी इच्छा पूर्ण करनेका सुभीता कर दिया जाता है, तब परम दयालु, परम सुहृद्, सर्वसमर्थ प्रभु मनुष्य-जीवनके अन्तकालमें जीवके साथ दयाका ऐसा बर्ताव करें, यह उचित ही है।

ऐसे परम कारुणिक, परम प्रेमी, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी परमात्माको विसारकर एक क्षणके लिये भी दूसरी वस्तुका भजन या सेवन करना महान् मूर्खताके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। भगवान्‌ने स्वयं चेतावनी देते हुए कहा है—

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥'
(गीता ९। ३३)

'सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर तू निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

इस कथनसे यह ध्वनि निकलती है कि यह शरीर बहुत ही दुर्लभ है; परंतु है नाशवान् और सुखरहित।

दुर्लभता इसीलिये है कि इसी शरीरसे परम कल्याण हो सकता है। ऐसे शरीरको पाकर तो सब समय भगवान्‌का भजन ही करना चाहिये। भजन नहीं किया जायगा और अज्ञानसे सुखरूप भासनेवाले विषयभोगोंमें मन फँस जायगा तो सुख तो मिलेगा ही नहीं (क्योंकि भगवान्‌को छोड़कर जगत्‌में कहीं सुख है ही नहीं, यह तो सुख-रहित ही है) और शीघ्र ही शरीरका नाश हो जानेसे मनुष्य-शरीरमें मुक्तिका अधिकाररूप हाथमें आया हुआ सुअवसर निकल जायगा।

यह स्मरण रखना चाहिये कि संसारमें भगवान्‌के भजनके समान और कोई वस्तु है ही नहीं। इस तत्त्व-को जो जान लेते हैं, वे तो एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को नहीं भूल सकते। भगवान्‌ने कहा है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥
(गीता १५।१९)

"हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे 'पुरुषोत्तम' जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझको ही भजता है" क्योंकि अनन्त ब्रह्माण्डोंके समस्त ऐश्वर्य-सुखको एक ओर रखा जाय और भगवान्‌का क्षणकालका जप या स्मरण एक ओर तो भी वह उस जप-कीर्तनकी बराबरी नहीं कर सकता। असंख्य ब्रह्माण्ड तो भगवान्‌के एक अंशमें ही स्थित हैं। भगवान्‌के समान तो भगवान् ही हैं और भगवान्‌का नाम भगवान्‌से अभिन्न है। इसलिये नाम-जपके साथ किसीकी तुलना नहीं हो सकती। अतएव हम सब लोगोंको निष्काम प्रेमभावसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नामका ही जप-कीर्तन और स्मरण करना चाहिये।

मनको आश्वासन

(रचयिता—श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी 'पत्रकार')

जलमसे ही जीनेकी आदत पड़ी है,
　　इसीसे तो अबतक जिये जा रहा हूँ।
नहीं जानता, क्या है करना, न करना,
　　जो अच्छा समझता, किये जा रहा हूँ॥
थकी देह, क्या जानें, कब गिर पड़े, यह
　　है गुदड़ी पुरानी सिये जा रहा हूँ।
नहीं सोचता हानि या लाभ कुछ भी,
　　समझकर सुधा विष पिये जा रहा हूँ॥
न आता कभी ध्यान प्रभुका हृदयमें,
　　मगर नाम तब भी लिये जा रहा हूँ।
'दयामय द्रवेंगे कभी दीन पर भी'—
　　यही दिलको ढाढस दिये जा रहा हूँ॥

आचार्यका उपदेश

[अनन्तश्रीविभूषित काञ्चीकामकोटिपीठाधिपति जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीचन्द्रशेखरजी महाराजका प्रसाद]

हमको विचार करना चाहिये कि हमारा हृदय किसका स्थान है। हृदय भगवान्‌के लिये निर्मित आसन है। उस स्थानको हमने कंकड़ और कचरेसे भर दिया है। उसे साफ करके उसपर गोबरका आलेप करें और वहाँ भगवान्‌को आसीन करें। इसके लिये उपाय क्या है? भगवान्‌के चरण-कमलोंका चिन्तन करते हुए नित्य प्रति कम-से-कम पाँच क्षणतक हम ध्यानमें तत्पर रहें।

*　　*　　*

पाप क्या है और पुण्य क्या है? हमारा मन जिसे करने नहीं देना चाहता, जिसमें प्रवृत्त होनेसे रोकता है, वह अनुचित, शास्त्रनिषिद्ध कर्म 'पाप' है। हमारा स्वच्छ मन जिसे सादर स्वीकार कर लेता है, वह शास्त्रविहित कर्म पुण्य-कार्य है।

इच्छा और स्वार्थ-भावनासे दूर रहकर जो भी काम किया जायगा, वह पाप नहीं माना जायगा। स्वार्थ-साधनकी इच्छासे आसक्तिपूर्वक जो कार्य किया जायगा, वह पाप माना जायगा। पाप करते-करते उसकी आदत पड़ जानेसे सदा पाप-कार्यमें ही प्रवृत्ति होती रहती है।

हमें सोचना चाहिये कि हमसे किस-किस प्रकार पाप बनते हैं। मनमें बुरे विचार लेकर हम राग-द्वेषमूलक कर्म करके पाप-कार्य करते हैं। वाणीसे अंट-शंट बातें बनाकर पापाचार करते हैं। शरीरके द्वारा अशास्त्रीय तथा अशोभन कार्य करके हम पापाचारको बढ़ावा देते हैं। धन-सम्पत्तिके द्वारा भी हमसे अनेक प्रकारके पाप-कार्य बनते हैं। यद्यपि मनमें पापकर्म-विरोधी विचार भी उठते हैं तो भी बुरी आदत होनेसे हमसे पाप-कार्य किये बिना रहा नहीं जाता।

हमने पाप-पङ्क लपेट रखा है। बहुत दिनोंसे पाप करते आ रहे हैं, यही कारण है कि वह आदत सहसा नहीं छूटती। उससे हम किस प्रकार मुक्त हो सकते हैं, इसपर ध्यान देना चाहिये। हमने जिस प्रकार इस पापमयी रस्सीको लपेट लिया है, उसी भाँति हमें उसको छुड़ाना भी होगा। जिस जिह्वासे हमने वाणीद्वारा पापकार्यका अभ्यास डाल लिया था, उसीके द्वारा हमें पुण्यकार्य करनेका अभ्यास डालना होगा।

*　　*　　*

पाप और पुण्यके होनेका कारण क्या है—यह विचारणीय है। किसी वृक्षको हम हरित पल्लवोंसे शून्य कर देना चाहें तो उसको जड़-मूलसे ही काट डालना होगा। इसी प्रकार पापके मूल कारणको जानकर उसका त्याग करना पड़ेगा।

प्रतिदिन तन, धन और वाणीके द्वारा लोक-कल्याण-का कार्य करते रहना चाहिये। हमको जो धन मिलता है, उसमेंसे प्रतिदिन थोड़ा-सा ही सही, धर्म-कार्यके लिये जमा करना चाहिये। उस धनराशिका परिवारके लिये उपयोग न करके उसे धर्म-कार्यमें लगाना चाहिये। स्मरण रहे कि जिसे मोहवश हम अपना कहते हैं, वह सारा धन वास्तवमें हमारा नहीं है। जब शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होगा, तब धन भी हमसे अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर लेगा। यदि हम उस धनको अपना बनाना चाहें तो उसे कागजके नोट बना लें, जिससे हम जहाँ कहीं भी जायँ, उसे साथ ले जा सकें। धनको धर्मरूपी नोटमें परिवर्तित कर लें। यहाँका धन स्वर्गके संसारमें सर्वथा महत्त्वहीन है। यदि उसे

धर्मरूपी धनमें बदल लें तो वह वहाँ भी चल सकेगा। अतः आबाल-वृद्ध सभी नर-नारियोंका काम होना चाहिये कि वे प्रतिदिन अपने धनका कुछ भाग धर्म-कार्यमें लगावें।

हमलोग धर्मको भूल गये हैं; पर वास्तवमें वही परलोकमें काम आनेवाला धन है। बच्चोंके लिये अलग धर्म-हुंडी रखें। क्या उनके लिये बीमा नहीं करवाते? परंतु उस धनका जीवनके पश्चात् क्या उपयोग है? धर्म-हुंडीका संग्रह तो जीवनके पश्चात् भी उपयोगी रहेगा। अतः कहना पड़ेगा कि यही मानव-जीवनके पश्चात्‌की क्षेमनिधि है।

* * *

हमारे मनमें असंख्य इच्छाएँ उदित होती और पलती रहती हैं। परंतु एक दिन ऐसा आयेगा, जब कि हम अपनी परमप्रिय वस्तुओंसे भी बिछुड़ जायँगे। उस समय या तो हमें उनको छोड़ना पड़ेगा या वे ही हमारा साथ छोड़ देंगी।

यदि हम मृत्युके द्वारा उनसे बिछुड़ते हैं तो दुःखी होते हैं; यदि स्वयं ही उन वाञ्छित वस्तुओंका परित्याग कर दें तो हम शान्ति-सुखका समास्वादन करते हुए सानन्द रह सकते हैं। हमारे मनमें जितनी अभिलाषाएँ हैं, उतनी ही खूँटियाँ गाड़कर हम अपनेको दृढ़ बन्धनमें बाँधते जा रहे हैं। हम ज्यों-ज्यों इच्छाओंको कम करते जायँगे, त्यों-त्यों दुःखकी मात्रा भी कम होती जायगी। इस जीवनकी समाप्तिसे पूर्व अपनी सारी इच्छाएँ यदि हम त्याग देंगे तो पुनर्जन्मका भय भी जाता रहेगा तथा परमात्मामें लीन होकर हम आनन्द-सिन्धुमें सदा अवगाहन करते रहेंगे।

हमें गर्व है कि मनुष्य पशुओंसे ऊँचा है; परंतु प्रश्न यह है कि उसने पशुओंसे अधिक कौन-से प्रशंसनीय कार्य कर लिये। श्वान, रक्त-पिपासु सियार तथा तिलचट्टा भी तो जन्म लेते हैं, अपनी वंश-वृद्धि करते हैं और जीवनका अन्त पाते हैं। साधारणतया मनुष्य भी इससे अधिक क्या कर लेता है? ऐसी दशामें मनुष्यको अपनी मनुष्यतापर गर्व क्यों करना चाहिये? सबसे अधिक ज्ञानका—निरन्तर आनन्दका मार्ग खोजना ही मनुष्यका पुरुषार्थ है। हमें विचार करना चाहिये कि मनुष्य उपर्युक्त आनन्दको प्राप्त कर सकता है अथवा नहीं? यह ज्ञान तथा 'अहं'—दोनों अभिन्न हैं। जब हमें यह ज्ञान होगा कि हम कौन हैं, तब हमें यह ज्ञात हो जायगा कि हम स्वयं ही ज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्म हैं।

* * *

समुद्र एक ही है, परंतु भिन्न-भिन्न स्थानोंमें उसका भिन्न-भिन्न नाम है। उसी तरह भगवान् एक ही हैं, किंतु उनके नाम और रूप अनेक हैं। इस एकताको हम समझें और उन महात्माओंके चरणोंमें नमन करें, जिन्होंने इस तत्त्व-ज्ञानको हमारे सामने रखा था। उनके द्वारा रचे गये प्रेमसे भरे भजन हम गायें। उनके द्वारा दिये गये सदुपदेश गहरे, परंतु पर्वतकी तरह भारी हैं, उनका हम मनन करें। तभी हमको सच्चे आनन्द-की उपलब्धि हो सकेगी।

* * *

जल ऊँचे प्रदेशसे अथवा पर्वतोंसे गिरकर प्रवाहित होता है; पत्थरोंके छिद्रोंसे होकर बहता है और निर्झर या प्रपात बनता है। वह गम्भीरताके साथ पर्वतोंकी तराईमें गिरता है। अब वह समतल भूमिमें बहने लगता है। बड़ी शान्तिके साथ बड़ी नदीका रूप धारण करता है, खेतोंकी सिंचाईके उपयोगमें आता है और अन्तमें अनल्प जलके साथ अपना चहल-पहल खोकर समुद्रमें मिल जाता है।

यही दशा मनुष्यकी भी है । वह शिशुके रूपमें जन्म लेता है; युवावस्थामें आशाओं और अहंकारसे गर्जता है । सांसारिकतामें प्रवेश पाकर पूर्व-जन्मके कर्मके अनुसार अनेक कार्य करता है, सुख-दुःख भोगता है । वृद्धावस्थामें विश्राम पाता है और अहंकार दूर करता है । ईश्वरके चरणोंमें अपने मनको अर्पित करता है; उनके स्वरूपमें लीन होता है, अपनी दशाको, अपनेपनको खोकर भगवान्‌के साथ एकाकार हो जाता है ।

* * *

यदि कोई ग्रामवासी मनुष्य नगरके लोगोंके अपराधोंकी आलोचना कर रहा हो, जैसे—'वह अयोग्य है ।' 'वह उधर खड़ा क्यों था ?' 'उसने यह कार्य क्यों किया था ?' और वह इस तरहकी शिकायतें करता फिरता है तो उसकी सारी बातें वाक् तथा मनोगत होनेपर भी सत्य-संगत नहीं कही जा सकतीं ।

जो प्राणियोंके लिये हितकर और प्रिय हो, वही सत्य है—'सत्यं भूतहितं प्रियम्' है । मनोगत विचार वाणीमें प्रकट हों—यह साधारण नियम है । हम विचार करें कि क्यों मनोगत विचारोंको ही वाणीद्वारा व्यक्त करें ? सारे कार्य प्राणिमात्रकी कल्याण-कामनासे ही किये जाते हैं । सत्य भी ऐसा हो, जिससे कल्याणमय परिणाम प्रकट हो । जो सबके लिये कल्याणकारी हो, वही सत्य है । जिससे किसीका अमङ्गल हो, वह सत्य सुसंगत नहीं होगा ।

सत्य ऐसा होना चाहिये, जो जीवमात्रके लिये कल्याणकारक सिद्ध हो । काम तथा क्रोधसे प्रेरित सत्य सत्य नहीं होगा; उसमें किसीके अहितकी प्रतीक्षा छिपी रहती है ।

सत्य-भाषण ऐसा हो, जिससे किसीका मन खिन्न न हो । जिससे हमारा अथवा अन्य किसी जीवका मङ्गल हो—वैसा ही भाषण करना उचित है । ऐसे सत्यको प्रस्तुत करते समय भी मनमें शान्त-भाव बनाये रखें, जिससे सुननेवालोंका चित्त विचलित न हो । यही वाणीद्वारा प्रकट किया जानेवाला सत्य है ।

श्रीरामसे प्रार्थना

तुम सम दीनबंधु, न दीन कोउ मो सम, सुनहु नृपति रघुराई ।
मो सम कुटिल-मौलिमनि नहिं जग, तुम सम हरि ! न हरन कुटिलाई ॥
हौं मन-वचन-कर्म पातक-रत, तुम कृपालु पतितन-गतिदाई ।
हौं अनाथ, प्रभु ! तुम अनाथ-हित, चित यहि सुरति कबहुँ नहिं जाई ॥
हौं आरत, आरति-नासक तुम, कीरति निगम-पुराननि गाई ।
हौं सभीत, तुम हरन सकल भय, कारन कवन कृपा बिसराई ॥
तुम सुखधाम, राम श्रम-भंजन, हौं अति दुखित त्रिविध श्रम पाई ।
यह जिय जानि दास 'तुलसी' कहँ राखहु सरन समुझि प्रभुताई ॥

(विनयपत्रिका)

एक महात्माका प्रसाद

जिसने श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शरणागत होकर प्यारे प्रभुको अपना लिया, अथवा जो एकमात्र सब प्रकारसे प्यारे प्रभुका ही होकर रहता है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक सुखकी दासता तथा दुःखके भयसे रहित होकर मिलन-रसका अधिकारी हो जाता है—यह प्यारे प्रभुका मङ्गलमय विधान है। जिस-किसीने उनको पाया, अपनेको देकर पाया। जो साधक अपनेमें अपना कुछ नहीं पाता, अपितु सब ओरसे विमुख होकर प्रभुके शरणागत हो जाता है, उसे फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। सर्वसमर्थ प्रभुकी कृपा उसे स्वयं उपयोगी बना लेती है। मानवसे सबसे बड़ी भूल यही होती है कि वह दाताको अपना न मानकर मिली हुई वस्तु आदिको अपना मान लेता है। यह सब कुछ उन्हींका था, उन्हींका है तथा उन्हींका रहेगा; और वे सदैव शरणागतके हैं और रहेंगे। उसमें लेशमात्र भी संदेह करना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। प्रत्येक घटनामें उन्हींकी अनुपम लीलाको देखो और उन्हींकी अहैतुकी कृपाका आश्रय पाकर सदाके लिये निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ।

* * *

प्रत्येक दशामें मानसिक शान्ति सुरक्षित रखो और सब प्रकारसे सर्वसमर्थ प्यारे प्रभुके होकर रहो; यही सफलताकी कुंजी है।

प्रत्येक घटनामें प्यारे प्रभुकी अनुपम लीलाका दर्शन करते हुए सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहें, सब प्रकारसे उन्हींके होकर रहें। आप सदैव उनके और वे आपके हैं, यह निर्विवाद सत्य है। उन्हें आप और आपको वे सदैव प्रिय हैं। आपके और उनके बीच केवल प्रेमका आदान-प्रदान है। उनकी दी हुई प्रीतिको ही उन्हें देते रहें और प्रीति पाते रहें—इसीमें इस जीवनकी पूर्णता है।

अपने पास अपना मन मत रखें; जहाँ प्यारे रखें, वहीं रहें। आपके प्यारे सदैव आपके साथ हैं। आप उनके प्राण-प्यारे और वे आपके प्राण-प्यारे हैं।

* * *

ज्ञान-शक्ति, भाव-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति मानवमात्रको प्राप्त है। ज्ञानके अनुकूल भाव और भावके अनुकूल क्रिया होती है। सत्य-ज्ञानसे पवित्र भाव तथा शुद्ध क्रिया होती है। मिथ्या ज्ञानसे अपवित्र भाव तथा अशुद्ध क्रिया होती है। विषयोंके रागसे गलत ज्ञान और राग-रहित होनेसे सत्य ज्ञान उत्पन्न होता है। शरीरको अपना स्वरूप समझनेपर गलत ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। यह नियम है कि जिससे हम अपनेको मिला देते हैं, उसमें प्रियता होने लगती है; इसीलिये शरीर प्रिय मालूम होता है। विषयोंका समूह ही 'शरीर' है। अतएव 'मैं शरीर हूँ'—इस विचारमें विषयोंसे राग तथा आसक्ति हो जाती है, जो महान् दुःखका मूल है। अपनेको शरीर कभी मत समझो। ऐसा अनुभव करनेपर सत्य ज्ञान अवश्य उत्पन्न होगा, जो आनन्दका मूल है। ज्ञान-शक्तिसे भगवत्स्वरूपका अनुभव करो और भाव-शक्तिसे भगवत्-अनुराग (प्रेम) तथा क्रिया-शक्तिसे भगवत्-सेवा करनी चाहिये। क्रिया-शक्तिको भाव-शक्तिमें और भाव-शक्तिको ज्ञान-शक्तिमें लीन कर अनन्त आनन्दका अनुभव करो।

* * *

शुद्ध क्रिया होनेपर उस क्रियाका प्रभाव (फल) भगवत्-अनुराग ही होता है; क्योंकि क्रिया जिस भावसे की जाती है, उसका फल उसी भावमें दृढ़ता कर देता है; क्रिया अपनी कुछ भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती। बल्कि जैसा कर्ताका भाव होता है, वही उसका सच्चा स्वरूप है। इसलिये सेवा-भावकी क्रियासे भगवत्-अनुराग उत्पन्न हो जाता है और भगवत्-अनुराग उत्पन्न होनेपर बुद्धि (ज्ञान-शक्ति) स्वरूपमें स्थित हो जाती है। ऐसा हो जानेपर परम शान्ति अवश्य प्राप्त होती है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। बुद्धि जिस भावको लेकर स्थिर होती है, अनन्त ज्ञानके भंडारसे उसको वही ज्ञान प्राप्त होता है। अतएव ज्ञानके लिये किसी बाहरी वस्तुकी खोज मत करो; क्योंकि अनन्त ज्ञानका भंडार आपकी अन्तरात्मा है।

* * *

प्रत्येक कर्मका जन्म कर्तामेंसे ही होता है, अर्थात् जैसा कर्ता, वैसा कर्म। कर्मसे कर्ता नहीं बनता, अपितु कर्तामेंसे ही कर्म निकलता है। यदि कर्मसे कर्ता बन सकता तो आज वैज्ञानिक लोग ऐसी फैक्ट्री बना देते, जिनके द्वारा भले आदमी बन जाते और फिर सभीको अच्छे-से-अच्छे साथी जितने चाहिये, मिल जाते; पर आज मानव-समाज ऐसा नहीं कर सका। इस दृष्टिसे यह निर्विवाद सत्य है कि जब कर्ता भला होगा तो कर्म भला होगा; और भले कार्योंसे विश्व-शान्ति होगी।

परिवार, समाज और संसार स्वरूपसे एक हैं। जिस परिवारमें हम रहते हैं, वह भी विश्वका एक रूप है। हमारे साथी हमारे साथ क्या करते हैं, इसपर तो हम ध्यान देते हैं; पर क्यों करते हैं, इसपर हम विचार नहीं करते। उसका परिणाम यह होता है कि हम दूसरोंको अपराधी मानकर क्षोभ तथा क्रोधसे भर जाते हैं, जिससे अपनी बड़ी ही क्षति होती है; और उसे, जिसने हमारे साथ बुराई की, सर्वांशमें बुरा मान लेते हैं। इसका भयंकर परिणाम यह होता है कि वह बेचारा हमारे संकल्पसे ही विवश होकर पुनः बुराई करने लगता है। जैसे-जैसे हम उसे बुरा मानते जाते हैं, वैसे-वैसे वह बुराई करता जाता है और हम उसे पुनः बुरा मानते जाते हैं। हमारे बुरा माननेसे उसे जितनी क्षति होती है, उतनी क्षति उसके बुराई करनेसे नहीं होती। इतना ही नहीं, यदि अपने प्रति होनेवाली बुराईको हम हर्षपूर्वक सहन कर लेते और उसे अबोध बालककी भाँति विवश मानकर क्षमा कर देते और हृदयमें उसके प्रति करुणाकी धारा उदय होती तो वह सदाके लिये बुरा न रहता और उसके बुरा न रहनेसे बुराईकी उत्पत्ति ही नहीं होती। इससे सुन्दर बुराईका और कोई प्रतीकार नहीं है। यह जीवनका विज्ञान है।

जब कोई अकारण हमारे साथ बुराई करता है तो हमको अच्छा तो नहीं लगता, परंतु क्षुभित होनेसे तो अपनी शान्ति भङ्ग होती है, जिससे जीवनमें शक्तिहीनता आती है और फिर हम अपने कर्तव्यका ठीक पालन ही नहीं कर पाते। यह परिणाम हमारे क्षुभित होनेका है, किसीकी बुराई करनेका नहीं। दूसरेकी की हुई बुराई हमें अल्पकालके लिये दुःखी कर सकती है, पर कर्तव्यसे विमुख नहीं कर सकती। दुःखी होनेपर यदि हम निज ज्ञानके आधारपर विचार करें तो हमें यह स्पष्ट हो जायगा कि बुराई करनेवाला किसी-न-किसी नाते अपना ही है। अपने दाँतसे अपनी जीभ कट जाती है तो क्या जीभ दाँतोंपर क्रोध करती है, दाँतोंको तोड़नेके लिये आज्ञा देती है ? क्या हम स्वयं दाँतोंको तोड़कर फेंक देना चाहते हैं ? कदापि नहीं। हम जानते हैं कि दोनों अपने ही हैं। अपनेको सावधान करते हैं, दाँत और जीभको कुछ नहीं कहते। सावधानीका परिणाम यह होता है कि दोनों व्यक्तित्व एक हो जाते हैं और व्यक्तित्व-भेदके मोहसे रहित होकर वे अपनेमें अपने प्रेमास्पदको पा जाते हैं। यह क्षमाशीलताका फल है और कुछ नहीं। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक अपने दुःखका कारण किसी औरको नहीं मानता; न किसीसे सुखकी आशा ही करता है। बुराईका मूल निज ज्ञानका अनादर है। सर्वांशमें कभी कोई मानव ज्ञानका अनादर नहीं करता, तो फिर वह सर्वांशमें बुरा कैसे हो सकता है ? बुरा कोई होता नहीं, बुराई उत्पन्न होती है; न दुहरायी जाय तो वह स्वतः मिट जाती है। बुराई न रहे, इसके लिये सर्वोत्कृष्ट उपाय यही होगा कि स्वयं की हुई बुराईको हम दुहरायें नहीं और अपने प्रति होनेवाली बुराईका प्रतीकार न करें; अर्थात् बुराई करनेवालेको बुरा न समझें। यदि सम्भव हो तो बदलेमें उसकी भलाई करें; अन्यथा उसके आक्रमणसे क्षुभित न हों और उसके लिये सद्भाव रखें, उससे मूक प्यार करें। इससे अपनेको परम उदार, परम स्वतन्त्र, परम प्रेमसे भरपूर प्रेमास्पदकी प्राप्ति हो जायगी। यह प्रभु-विश्वासी साधकोंका अनुभव है।

अब विचार यह करना है कि दूसरोंकी भूल अपनेको क्षुभित न करे, इसके लिये उपाय क्या हो सकता है ? इस सम्बन्धमें प्रथम यह विचार करना है कि क्षुभित होनेसे सबसे बड़ी क्षति क्या होती है—विस्मृति। विस्मृतिके समान और कोई क्षति हो ही नहीं सकती; कारण कि समस्त विकार—पराधीनता, जडता, नीरसता, भेद-भिन्नता आदि सब विस्मृतिके ही परिणाम हैं। स्मृतिमें जीवन है। जीवनमें नीरसताकी गन्ध भी नहीं है, न किसी प्रकारका अभाव है। अभावरहित, रसरूप, अविनाशी जीवन स्मृतिमें ही है। इस दृष्टिसे सजग साधकको विस्मृतिका अन्त करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब साधक परिस्थिति-वश आनेवाले सुख-दुःखके आक्रमणसे अपनेको बचाये। अपमानका दुःख एक बड़ा भयंकर दुःख है। उसी प्रकार सम्मानकी पूर्ति सुखके रूपमें बड़ी जडता है। अपमानका दुःख और सम्मानकी जडताका मूल है—अपनी वास्तविक माँगकी विस्मृति। यदि साधक अपनी वास्तविक माँगको कभी न भूले तो वह बड़ी सुगमतापूर्वक आये हुए आक्रमण-से बच सकता है और फिर माँगकी पूर्तिसे जीवनकी सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं।

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन]

श्रीकृष्ण बिना किसी शर्तका प्रेम चाहते हैं

शुभ्र और निर्मल ज्योत्स्नासे प्लावित शारदीय पूर्णिमाकी निःस्तब्ध रजनीमें भगवत्प्रिया कालिन्दीके विमल तटपर एकान्त पवित्र स्थानमें बैठकर आनन्द-प्रेमाश्रुओंसे पूर्ण नेत्रोंद्वारा सर्वत्र श्रीश्यामसुन्दरको निहारते हुए श्रीकृष्णके सुधा-माधुर्य-सार पवित्र नामकी आर्त्त पुकार करनेकी आपकी कामना अत्यन्त ही कमनीय, सराहनीय और अभिनन्दनीय है। ऐसा शुभ समय कब होगा, इसका बतलानेवाला है कौन? जिस चतुर-चोर-चूड़ामणिने 'आपके चित्तको चुराया है', उसीसे 'उसके विरहमें रोनेका आनन्द-सिन्धु कब उमड़ेगा'—यह भी पूछना चाहिये। मेरी समझसे तो वह लीलामय जब चाहेगा, तभी यह सुयोग उपस्थित कर देगा। हाँ, उसके दिलमें ऐसी चाह उत्पन्न करनेके लिये अपनी सब चाहोंको उसकी अज्ञात चाहमें मिलाकर उसकी चित्तचाही चाहकी चाहपूर्वक प्रतीक्षा करते रहना चाहिये। फिर जब उसकी मुरली बजेगी—बजती तो वह सर्वदा है ही, हम उसे सुन नहीं पाते—तभी वह शुभ समय समीप आ जायेगा। आर्त्त और कल्याणभावसे उसे पुकारते रहिये। क्यों पुकारते हैं, क्या चाह है, कबतक पुकारना है, पुकारनेवाले हम कौन हैं, इन बातोंको भुला दीजिये। बस, केवल पुकार—पुकारके लिये पुकार, पुकारके स्वभावसे ही पुकार। इतना ध्यान रहे कि पुकार केवल वह ही सुने। पुकार ऐसी नीरव, ऐसी गुप्त और ऐसे हृदयके अन्तस्तलसे हो कि दुनियाको उसका पता ही न लगे। नहीं तो दुनियामें भक्त कहलानेसे मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा और कहीं-कहीं निन्दा-अपमान प्रारम्भ हो जायँगे, जो सच्ची पुकारके लिये बड़े बाधक होंगे। ऐसी पुकार हुई कि फिर वह स्थिर नहीं रह सकेगा; अपनी योगमायाका पर्दा हटा लेगा और अपने अनावृत सौन्दर्य-माधुर्यके अनन्त महासागरमें हमें डुबो देगा। वह बिना किसी शर्तका प्रेम चाहता है—स्मरण रखिये।

श्रीकिशोरीजी और श्रीश्यामसुन्दर एक ही हैं

श्रीकिशोरीजी और श्रीश्यामसुन्दर एक ही हैं। श्यामसुन्दर शक्तिमान् हैं और श्रीकिशोरीजी उनकी शक्ति हैं। वे पृथक् और अपृथक्—दोनों रूपोंमें रहते हैं। जब साधक श्रीश्यामसुन्दरको ही अपना ध्येय समझता है, तब श्रीकिशोरीजी उनसे अपृथक्भावसे उनके साथ रहती हैं। साधक इस बातको जानता हो तो ठीक है, न जानता हो तो भी कोई हर्ज नहीं है। इसलिये केवल श्रीश्यामसुन्दरको ध्येय माननेमें भी कोई आपत्ति नहीं है। जो लोग श्रीकिशोरीजीको श्रीश्यामसुन्दरसे पृथक् मानते हैं, उनकी उपासना भगवत्-लीला-प्रधान है। लीलामें श्रीकिशोरीजी पृथक्रूपसे ही रहती हैं। परंतु जिनकी उपासनामें भगवत्स्मरणकी प्रधानता हो, उनके लिये श्रीकिशोरीजीको श्रीश्यामसुन्दरसे पृथक् मानना आवश्यक नहीं है।

अभिलाषाकी पूर्तिके लिये भजन अमोघ साधन है

'खंजननैन-रूप-रस माते'—जैसे प्रेमभरे पदोंका गायन करते-करते शान्तिमय श्रीयमुनाजीके तटपर पावन व्रज-भूमिकी धूलिमें शरीरके विलीन हो जानेकी अभिलाषा बहुत ही उत्तम है। ऐसी शुद्ध और उत्तम अभिलाषा भगवत्कृपासे ही होती है। आपके हृदयमें ऐसी अभिलाषा जाग्रत् होती है और भगवत्प्रेमकी झाँकी होती है—इससे मालूम होता है, अखिल-आनन्दरस-सिन्धु, आनन्दकन्द श्री-श्यामसुन्दरकी आपपर कृपा है। आप धन्य हैं।

भगवान्‌पर निर्भर होकर भगवान्‌की आज्ञा और इच्छाके अनुकूल यथासाध्य आसक्ति, ममता और अहंकार त्यागकर दैवी सम्पदाके दिव्य गुणोंके द्वारा अनन्य और निष्काम भावसे भगवद्भजन ही वह अमोघ उपाय है, जिससे भगवत्प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहे और अन्तमें प्रेमवश श्रीभगवान् जहाँ आप रहें, वहीं दिव्य यमुना और व्रजभूमिसहित स्वयं प्रकट होकर आपके जीवनको कृतार्थ कर दें; आपकी अभिलाषा सचमुच सफल कर दें। मेरा यह निवेदन है कि आप इसी भावसे साधना करते रहें।

भगवान्‌का शील-स्वभाव

भगवान्‌का शील-स्वभाव बड़ा ही विचित्र है। वे न अवगुण देखते हैं न दोष। वे देखते हैं—केवल वर्तमानकी चाह तथा आसक्ति। जिसके मनमें उनकी चाह तथा उनमें आसक्ति होती है, वे उसे सर्वथा विशुद्ध करके अपना बना लेते हैं और स्वयं उसके बन जाते हैं। भूलना तो वे जानते ही नहीं। सारी स्मृतियोंके प्राण—आत्मा वे ही हैं। अतः हम सदा उनके रसमें अपनेको सराबोर रखें।

प्रेमीके लिये भोग तथा भोग-जगत् रहते ही नहीं

संसारमें संसारकी दृष्टिसे तो कहीं सुख है ही नहीं, हो सकता ही नहीं। भोग दुःखयोनि हैं और भोग-जगत् दुःखालय है; परंतु भगवान्‌में प्रेम रखनेवालेके लिये तो भोग तथा भोग-जगत् रहते ही नहीं। वहाँ तो सदा-सर्वदा-सर्वत्र केवल और केवल एकमात्र प्रियतम भगवान् ही होते हैं। इसलिये भगवान् तथा भगवान्‌की लीलामें सर्वत्र आनन्दका सागर ही लहराता है। अतएव उसीमें डूबे रहना चाहिये।

निर्भरताके मार्गपर ही चित्तकी धारा चला दीजिये

आपको अपना कल्याण होनेमें किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं है, यह परम संतोषका विषय है। यह विश्वास वास्तवमें दृढ़ हो तो चिन्ता है भी नहीं। इसको आप सर्वोत्तम साधन समझिये। यह हो जानेपर कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं रह जायगी। फिर तो जिनपर आप निर्भर करते हैं, जिनके भरोसे उत्ताल प्रचण्ड तरंगोंसे आन्दोलित महासमुद्रमें अपने आपको आपने डाल दिया है, वे भगवान् स्वयं केवट बनकर, सुदृढ़ सुखमयी नौकापर सवार कराकर निर्विघ्न आपको अपने धाममें ले जायँगे। अतएव 'साधन-सापेक्षता' न रखकर अनन्य निर्भरताके मार्गपर ही द्रुत गतिसे चित्तकी धारा चला दीजिये।

आपने पूछा है—'चरम ध्येय क्या होना चाहिये—भगवान्‌में एकत्व प्राप्त करना या (२) उनके दर्शन करना या (३) उनके चरण-कमलोंमें अनन्य प्रेम होना या (४) उनकी लीलामें सम्मिलित होना।' वस्तुतः इन सबका तात्पर्यार्थ या लक्ष्यार्थ एक-सा ही है। फिर निर्भरतामें तो निर्भरता ही चरम ध्येय होती है। क्या होगा, क्या होना चाहिये, कब होगा, क्यों होगा ?—इत्यादि प्रश्नोंके लिये तो निर्भरतामें गुंजाइश ही नहीं रहती। बस, निर्भर रहना ही परम और चरम ध्येय है। होगा वही, जो हमारे लिये परम कल्याणकारक होगा, यह निश्चय रखना चाहिये; क्योंकि जिन दयार्णव परम आत्मीय परमात्मा प्रभुके ऊपर हम निर्भर करते हैं, उनकी प्रत्येक चेष्टा कल्याणमयी होती है। उसमें अकल्याणकी या मन्द-कल्याणकी कल्पना ही नहीं हो सकती। हम क्यों सोच-विचार करें; क्यों दूसरी चिन्तामें मन लगावें ?

भगवान्‌के स्वभावकी ओर देखकर सदा प्रफुल्लित रहें

भगवान् सदा अपनी ही ओर देखते हैं—उन्हें प्रेमीके दोष दिखायी देते ही नहीं। वरं वे सचमुच यही समझते हैं कि उसकी मुझमें जितनी अधिक अनन्य प्रीति है, वैसी मुझमें उसके प्रति नहीं है और वे उसके ऋणी बन जाते हैं सदाके लिये। वह ऋण वे अपने ऊपर चढ़ाते ही चले जाते हैं—यह है उनका स्वभाव। उस स्वभावकी ओर देखकर सदा ही प्रफुल्लित रहना चाहिये। हमारी नीचतामें शक्ति

ही कहाँ है, जो भगवान्‌की स्वाभाविक प्रीतिके पावन प्रवाहको रोक सके। उनकी प्रीतिका प्रवाह तो निरन्तर हमें अपने अंदर आत्मसात् करता हुआ बह रहा है—बहता ही रहेगा।

निश्चिन्त रहकर भगवच्चरणोंमें सदा संलग्न रहें

नित्यकर्म प्रेमकी शोभा है; उसे अवश्य करना चाहिये। मनमें उत्तरोत्तर प्रभु-पदमें परम अनुराग बढ़ता रहे; फिर जगत्‌का राग अपने-आप ही नष्ट हो जायगा। सूर्यके सामने अन्धकार रह ही नहीं सकता; इसी प्रकार भगवान्‌के अनुरागके सामने भोगासक्ति रहती ही नहीं। अतएव तुम्हें मनमें सर्वथा निश्चिन्त रहकर भगवच्चरणोंमें सदा संलग्न रहना चाहिये। भगवान् आप ही सब चिन्ता करेंगे, उन्हींपर सारा भार है। पर उनको भार लगता ही नहीं, यही उनकी सहज प्रीतिका स्वरूप है। वरं वे अपनेको उलटे प्रेमीका ऋणी मानते हैं।

भगवान् पास ही रहते हैं, दूर जाते ही नहीं

बहुत प्रसन्न रहना चाहिये। प्रभु नित्य-निरन्तर तुम्हारे पास रहते हैं, इसपर दृढ़ विश्वास रखना। माना, नित्य समीप रहनेपर भी कभी-कभी मनमें अदर्शन हो जाता है, कभी शरीरका संयोग अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन मिले—ऐसी आकाङ्क्षा जगानेपर मनमें बड़ा कष्ट होता है; पर उस समय भी भगवान् पास ही रहते हैं; वे दूर जाते ही नहीं।

भगवान्‌के मङ्गल-विधानमें प्रसन्न रहना चाहिये

भगवान्‌के मङ्गल-विधानमें सदा प्रसन्न तथा संतुष्ट रहना चाहिये। यह निश्चय मानना चाहिये कि हमारे परम कल्याणके लिये ही भगवान्‌का विधान हुआ करता है। अतएव सब परिस्थितियोंमें प्रसन्न रहना चाहिये।

भगवान् सदा तुम्हारे साथ निश्चय ही रहते हैं। तुम चाहे चर्म-चक्षुओंसे उन्हें न देख सको, वे सब देखते हैं एवं सदा अनवरत रूपसे तुमपर स्नेह-सुधा उँडेलते रहते हैं। धैर्य रखो और मनमें परम प्रसन्न रहो।

'करी गोपाल' की सब होय !

होगा वही, जो श्रीभगवान्‌के मङ्गल-विधानके अनुसार होना है। एक पलका भी भरोसा नहीं है। मनुष्य सोचता कुछ और है, हो जाता है कुछ और ही—

> करी गोपाल की सब होय।
>
> जो अपनो पुरुषारथ मानत, अति झूठो है सोय ॥

* * *

> 'जो-कुछ रच राखी नँदनंदन मेटि सकै ना कोय ॥'

* * *

संसारमें संयोग-वियोग सब प्रारब्धाधीन हैं। मनुष्यका सोचा हुआ कुछ नहीं होता। इसलिये भगवान्‌के मङ्गल-विधानपर विश्वास करके सदा संतुष्ट रहना चाहिये।

मेरा साग्रह अनुरोध

मेरा तुमसे साग्रह अनुरोध है—तुम दिन-रात भगवान्‌के पवित्र चिन्तनमें ही अपने जीवनको लगा दो। सबको भूल जाओ। सारी ममता—सारी आसक्ति आकर टिक जाय एकमात्र भगवान्‌के श्रीचरणोंमें ही; संसारके प्राणी-पदार्थोंसे सदा विरक्ति और उपरति बनी रहे। (अप्रकाशित पुराने पत्रोंसे)

श्रीकृष्ण-भक्तकी अनन्यता

सकल की मूलमयी, बेदन की भेदमयी,
ग्रंथन की तत्वमयी, बादन के जाल की।
मन-बुद्धि-सीमामयी, सृष्टिहु की आदिमयी,
देवन की पूजामयी, जीवमयी काल की।
ध्यानमयी, ज्ञानमयी सोभामयी, सुखमयी,
गोपी-गोप-गाय-ब्रज-भागमयी भाल की।
भक्त-अनुरागमयी, राधिका-सुहागमयी,
प्राणमयी, प्रेममयी मूरति गोपाल की॥

* * *

भजौं तो गुपाल ही कों, सेवौं तो गुपालै एक,
मेरो मन लाग्यो सब भाँति नंदलाल सों।
मेरें देव-देवी-गुरु, माता-पिता-बंधु-इष्ट,
मित्र-सखा, हरि, नातो एक गोप-बाल सों॥
'हरीचंद' और सों न मेरो संबंध कछु,
आसरो सदैव एक लोचन-बिसाल सों।
माँगौं तो गुपाल सों, न माँगौं तो गुपाल ही सों,
रीझौं तो गुपाल पै औ खीझौं तो गुपाल सों॥

* * *

नैनन के तारे, दुलारे, प्रान-प्यारे मेरे,
दुख के दरन, सुख-करन बिसाल हैं।
मेरो ध्यान, मेरो ज्ञान, मेरे बेद औ पुरान,
बिबिध प्रमान मेरे एक नंदलाल हैं।
'हरीचंद' और सों न काम सपनेहूँ मोहि,
मेरे सरबस धन जसुदा के बाल हैं।
मेरी रति, मेरी मति, मेरे पति, मेरे प्रान,
मेरे जग माहिं सबै केवल गुपाल हैं॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

श्रीभागवतामृत

['श्रीमद्भागवत-महापुराण' निगमकल्पतरुका अमृतमय फल है। वेदों और उपनिषदोंके सारतत्त्वसे भागवत-कथाका प्रादुर्भाव हुआ है—**'वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा।'** यही हेतु है कि यह अखिल भारतीय वाङ्मयमें भक्तिशास्त्रकी मुकुटमणिके रूपमें समादृत है। वैष्णवोंका तो यह सर्वस्व ही है। जितने भी वैष्णव सम्प्रदाय हैं, उन सबमें श्रीमद्भागवतका वेदोंसे भी बढ़कर आदर है। कई आचार्योंने तो प्रस्थानत्रयीके अन्तर्गत उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रोंके साथ श्रीमद्भागवतको ही तीसरा प्रस्थान माना है। यही कारण है कि संस्कृत भाषामें इस महापुराणपर अनेकों विशद भावमयी टीकाएँ उपलब्ध होती हैं, जिनमें श्रीश्रीधरस्वामी, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीविजयध्वजतीर्थ, श्रीसुदर्शनसूरि, श्रीशुकदेव, श्रीवीरराघवाचार्य, श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीजीव गोस्वामी, श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती, तथा श्रीगङ्गासहायजी विद्यावाचस्पति आदिकी व्याख्याएँ विशेष प्रसिद्ध हैं। श्रीमद्भागवत स्वयं ही वेद, वेदान्त और भक्तिशास्त्रोंके सिद्धान्तको विशद-भावसे प्रकाशित करनेवाला महान् भाष्यरूप है। यद्यपि विद्वानोंके लिये यह परीक्षाभूमि है, तथापि भक्तोंके लिये भागवत-शास्त्र इतना सरल, इतना सुगम और इतना सुबोध है कि इसका एक-एक पद पढ़कर वे भाव-विभोर होते रहते हैं। कहा भी है—**'भक्त्या भागवतं ग्राह्यम्'** अर्थात् भक्तिसे ही श्रीमद्भागवतका भाव बोधगम्य होता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति भक्तिभावसे अध्ययन करके अपने अधिकार एवं भावके अनुसार श्रीमद्भागवतका अर्थ ग्रहण कर सकता है, यही श्रीमद्भागवतका अनन्यसाधारण महत्त्व है।

पद्मपुराणमें वर्णित श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें स्वयं सनकादि परमर्षियोंने प्रणव, गायत्री-मन्त्र, वेदत्रयी, श्रीमद्भागवत और पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण—इनका तत्त्वतः अभेद बतलाया है। इस प्रकार श्रीमद्भागवतको भगवान् श्रीकृष्णका साक्षात् वाङ्मयस्वरूप माना है।[1] भगवान्के कलावतार श्रीवेदव्यासजी-जैसे अद्वितीय महापुरुषको जिसके प्रणयनसे ही शान्ति मिली, उस श्रीमद्भागवतकी कितनी महान् महिमा है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इसमें श्रीकृष्ण-प्रेम, भक्ति, ज्ञान-विज्ञान और वैराग्य आदि विषय कूट-कूटकर भरे हैं। इसका एक-एक श्लोक मन्त्रवत् माना जाता है। इसीसे इसका धर्मप्राण जनतामें अत्यन्त आदर है। श्रीमद्भागवत-का दशम स्कन्ध इसका हृदय-स्थानीय है। उसमें श्रीमद्भागवतके परम प्रतिपाद्य परात्पर श्रीकृष्णकी—जिनका उल्लेख इसी ग्रन्थमें **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'** कहकर हुआ है—मधुरातिमधुर लीलाओंका परम मनोहर रूपमें वर्णन हुआ है। कहते हैं—महान् योगी परमहंसशिरोमणि श्रीशुकदेवमुनि, जो इस भागवत-ग्रन्थके वक्ता हैं, जो जन्मसे ही भगवान्के निर्गुण-स्वरूपमें परिनिष्ठित थे एवं प्रपञ्चसे सर्वथा पृथक् रहकर वनमें विचरण करते थे, इसी दशम स्कन्धके कतिपय श्लोकोंको सुनकर श्रीमद्भागवतकी ओर आकर्षित हुए थे और तत्पश्चात् उन्होंने अपने पिता श्रीवेदव्यासजीसे इस सम्पूर्ण ग्रन्थका अध्ययन किया था। सचमुच भगवान् श्रीकृष्णके चरित्र ऐसे ही हैं कि बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंका भी मन बरबस उनकी ओर खिंच जाता है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णका एक नाम है—**'आत्मारामगणाकर्षी'**।

ऐसे महिमामय दशम स्कन्धमें प्रवाहित रसका पान करने-करानेके उद्देश्यसे 'श्रीभागवतामृत' शीर्षकसे उसके

१. तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः। प्रत्यक्षा वर्तते हरेः। (भाग० माहा० ३। ६२)

प्रथम अध्यायके प्रथम तीन श्लोकोंकी व्याख्या यहाँ दी जा रही है । यह व्याख्या श्रीचैतन्य-सम्प्रदायके अनुयायी भक्तिभावितचित्त विद्वद्वरेण्य प्रभुपाद श्रीराधाविनोदजी गोस्वामीद्वारा उद्भावित 'श्रीभागवतामृतवर्षिणी' बंगला टीकाका भावानुवाद है । हमारे परमश्रद्धेय नित्यलीलालीन श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार श्रीमद्भागवतके अनन्य प्रेमी थे और 'श्रीभागवतामृतवर्षिणी' टीका उन्हें बहुत प्रिय थी । वे प्रायः इसका अनुशीलन करते रहते थे । अपने प्रवचनोंमें भी वे समय-समयपर इस टीकाके आधारपर श्रीकृष्ण-चरितकी चर्चा करते थे और श्रीकृष्णचरितानुरागी श्रोतागण उससे परम आह्लादित होते थे । भक्तोंके आग्रहसे श्रीभाईजीने अपने जीवनके अन्तिम कालमें इस टीकाका हिंदीमें भावानुवाद अपने पुराने सहयोगी विद्वान् पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदीसे करवाना आरम्भ किया था कि इसी बीच वे भगवान्‌की नित्यलीलामें लीन हो गये ।

श्रीमद्भागवतका उपसंहार करते समय परमहंसशिरोमणि श्रीशुकदेवमुनिने अपने अनुभवका सार बतलाते हुए कहा है—

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य ।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद् विविधदुःखदवार्दितस्य ॥ (१२ । ४ । ४०)

'जो लोग अत्यन्त दुस्तर संसार-सागरसे पार जाना चाहते हैं, अथवा जो लोग अनेकों प्रकारके दुःख-दावानलसे दग्ध हो रहे हैं, उनके लिये पुरुषोत्तम भगवान्‌की लीला-कथारूप रसके सेवनके अतिरिक्त और कोई साधन—नौका नहीं है । वे केवल लीला-कथा-रसायनका सेवन करके ही अपना मनोरथ सिद्ध कर सकते हैं ।'

सचमुच भगवान्‌की लीला-कथा भवसागरसे पार होनेके लिये सुदृढ़ नौकारूप है । अतएव 'श्रीभागवतामृत-वर्षिणी' टीकाका भावानुवाद क्रमशः 'कल्याण'में देनेका विचार किया गया है । हमारा विश्वास है कि हमारे भावुक पाठक-पाठिकागण इसके अनुशीलनसे विशेष परितोष एवं भाव ग्रहण करेंगे । —सम्पादक]

❁ ❁ ❁ ❁

श्रीराजोवाच—

कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः । राज्ञां चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम् ॥ १ ॥

अन्वय—श्रीराजा (श्रीकृष्णप्रेमसम्पत्तियुक्तः परीक्षित्), उवाच (श्रीशुकदेवं प्रति कथयामास) । भवता (परमहंसचूडामणिना), सोमसूर्ययोः (चन्द्रस्य सूर्यस्य च), वंशविस्तारः (पुत्रपौत्रादिक्रमेण वंशवर्णनम्), कथितः (नवमस्कन्धादौ प्रबन्धेनोक्तः), उभयवंश्यानाम् (चन्द्रवंशजातानां सूर्यवंशजातानां च), राज्ञाम् (पुरूरवःककुत्स्थादीनाम्), परमाद्भुतम् (अलौकिकं परमविस्मयावहम्), चरितम् (उर्वशीपरिग्रहादिकम् इन्द्रारोहणादिकं च कथितमिति शेषः) ॥ १ ॥

मूलानुवाद—श्रीकृष्ण-प्रेमरूप सम्पत्तिसे युक्त राजा परीक्षित् श्रीशुकदेवजीसे बोले—आपने चन्द्र और सूर्यके वंशका वर्णन किया है तथा इस वंशमें उत्पन्न पुरूरवा, ककुत्स्थ आदि राजाओंके परम अद्भुत चरित्रका वर्णन किया है ॥१॥

श्रीभागवतामृतवर्षिणी व्याख्या—महाराज परीक्षित्‌के प्रश्नके अनुसार परमहंसचूड़ामणि श्रीशुकदेवजीने योग-धारणा, महापुरुष-संस्थान, समष्टि और व्यष्टि विराट्-वर्णन, मनुवंश-वर्णन, भूगोल आदिके वृत्तान्तका वर्णन तथा अनेकों भक्तोंके जीवन-सम्बन्धी कथाओंका वर्णन करके अन्तमें नवम स्कन्धमें सूर्य और चन्द्रवंशका वर्णन किया है । चन्द्रवंशके वर्णनके प्रसङ्गमें संक्षेपसे श्रीकृष्णलीलाका संकेत किया है । महाराज परीक्षित्‌ने माताके गर्भमें रहते समय जिनकी श्रीमूर्तिका दर्शन किया था; पाण्डवकुलके जो एकमात्र आधार थे; जिनके चरण-सम्बन्धकी स्मृतियोंके सहारे जन्म-जन्मान्तरके भजन-संस्कार महाराज परीक्षित्‌का निरन्तर अनुगमन करते थे तथा जिनके प्रभावसे महाराज परीक्षित् भूमण्डलके

साम्राज्यकी वासना त्यागकर गङ्गातटका आश्रय लेनेमें समर्थ हुए थे; उन विधि-भव-वन्दित-चरण, दीनैकशरण श्रीगोविन्दकी कथा सुनते ही उनका अन्तर्निहित गुप्त प्रेम-बीज अङ्कुरित हो उठा।

विस्मृत—खोये हुए धनका कुछ अंश प्राप्त होनेपर जैसे स्मृति होते ही उस धनके अवशिष्ट अंशको पानेकी प्रबल उत्कण्ठा हो जाती है, उसी प्रकार महाराज परीक्षित् भी श्रीकृष्णलीलाका कुछ अंश श्रवण करनेपर शेष अंशको सुननेके लिये व्याकुल हो उठे। प्रेम हृदयकी वस्तु है, तथापि उसे हृदयके भीतर छिपाकर नहीं रख सकते; बाहर भी उसके नाना प्रकारके विकार प्रकट हो उठते हैं। महाराज परीक्षित्की श्रीकृष्णलीला सुननेकी प्रबल लालसासे देखते-ही-देखते उनके नयनोंमें अश्रु, अङ्गमें रोमाञ्च और वाणीमें गद्गद-भाव प्रकट हो उठे। वे प्रेम-कान्तिसे कान्तिमान् तथा प्रेम-सम्पद्से यथार्थ महाराज हो गये। राजवेषका त्याग तथा अपने दैहिक श्री और राजत्वका परित्याग करनेके कारण उनको ऐहिक श्रीविहीन देख करके विषयासक्त लोग उन्हें भले ही श्रीहीन कहें, परंतु तत्त्वज्ञ पुरुष कहेंगे कि 'क्व श्रीस्त्वत्पदाम्बुजरतिर्न वा धनजनग्रामादिभूयिष्ठता'—

सम्पत्तिर मध्ये जीवेर कोन सम्पत्ति गनि।
राधाकृष्ण प्रेम जार सेइ बड़ धनी॥
(श्रीचैतन्य-चरितामृत)

अतएव वे ही यथार्थ श्रीमान् हैं। इसी कारण श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धके प्रारम्भमें 'श्रीराजोवाच' अर्थात् श्रीकृष्ण-प्रेमसम्पत्तियुक्त राजा बोले—ऐसा कहा गया है।

श्रोता यदि वक्ताके वक्तव्य विषयको हृदयंगम कर सके तो वक्ताको विशेष आनन्द और उल्लास प्राप्त होता है। तब वह हृदय खोलकर आगेके प्रश्नोंका उत्तर देता है। महाराज परीक्षित् श्रीकृष्णलीला-सम्बन्धी प्रश्नका इसी प्रकार खुले हृदयसे दिये हुए उत्तरको सुननेके लिये श्रीशुकदेवजी-के पूर्वोक्त प्रसंगका उल्लेख करके बोले—'हे गुरो! मैं आपकी कृपासे धन्य हो गया। आपने जो चन्द्रवंशी राजाओं-के पुत्र-पौत्रादि वंशक्रम तथा उन महान् प्रतापी राजाओंके अलौकिक चरित्रका वर्णन किया है, उसको सुनकर मैं कृतार्थ हो गया हूँ।'

श्रीभगवान्ने श्रीकृष्णरूपमें चन्द्रवंशमें और श्रीरामचन्द्रके रूपमें सूर्यवंशमें जन्म लेकर इन दोनों वंशोंको परम कृतार्थ और प्रातःस्मरणीय बना दिया है। महाराज परीक्षित् श्रीभगवान्की इस परम करुणाके सम्बन्धमात्रसे श्रीशुकदेवजी-से बोले—'आपने चन्द्र और सूर्यवंशका वर्णन किया है।' श्रीमद्भागवत द्वितीय स्कन्धसे नवम स्कन्धतक पाठ करनेपर ज्ञात होता है कि उसमें चन्द्र और सूर्यवंशके अतिरिक्त अन्य अनेक वंशोंका वर्णन हुआ है। परंतु भक्तका यह स्वभाव है कि श्रीभगवान्के सम्बन्धका लेशमात्र भी पाकर वह उसमें मत्त हो उठता है; दूसरी कोई बात मनमें नहीं आने देता, अथवा मुखसे प्रकट नहीं करता है। जिस प्रकार विषयासक्त मनुष्य मन, वचन और कर्मसे केवल विषयके सम्बन्धको ही ग्रहण तथा व्यक्त करते हैं, उसी प्रकार श्रीभगवद्भक्त जन भी मन, वचन और कर्मसे केवल श्रीभगवान्के ही सम्बन्धको ग्रहण तथा अभिव्यक्त करते हैं। भक्तचूड़ामणि महाराज परीक्षित्ने श्रीयदुनाथ और श्रीरघुनाथका सम्बन्ध देखकर चन्द्र और सूर्यवंशको ही परम उपादेय रूपमें ग्रहण और अभिव्यक्त किया है।

व्याकरणके नियमके अनुसार श्रेष्ठ और कनिष्ठवाचक पदोंमें द्वन्द्व समास होनेपर श्रेष्ठवाचक पद ही पहले प्रयुक्त होता है। चन्द्र उपग्रह और सूर्य ग्रह है। चन्द्र सूर्यके आलोकसे आलोकित होकर जगत्को आलोकित करता है। चन्द्रकी अपेक्षा सूर्य आकारमें भी बहुत बड़ा है। इस प्रकार समालोचना करनेपर जान पड़ता है कि चन्द्रकी अपेक्षा सूर्य ही श्रेष्ठ है। अतएव सोम और सूर्य शब्दोंका समास करनेपर 'सोमसूर्य' न होकर 'सूर्यसोम' होना ही उचित है। परंतु महाराज परीक्षित्ने श्रीशुकदेवजीके सामने 'सूर्यसोमयोः' न कहकर 'सोमसूर्ययोः' कहा है। उनके मनका भाव यह है कि जागतिक श्रेष्ठ-कनिष्ठभाव न लेकर श्रीभगवत्सम्बन्धसे ही श्रेष्ठ-कनिष्ठका व्यवहार करना समीचीन है। चन्द्रवंशमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण तथा सूर्यवंशमें उनके ही प्रथम व्यूह वासुदेव श्रीरामचन्द्रके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं। अतएव स्वयं श्रीभगवान्के सम्बन्धकी गुरुताकी दृष्टिसे चन्द्र ही श्रेष्ठ आसन पानेयोग्य हैं। विशेषतः चन्द्र ब्रह्माके मानसपुत्र महर्षि अत्रिके पुत्र हैं तथा सूर्य ब्रह्माके मानसपुत्र महर्षि मरीचिके पौत्र हैं। अतएव जन्म-सम्बन्धसे भी चन्द्र ही श्रेष्ठ हैं।

महाराज परीक्षित् श्रीकृष्णलीलाकी कथा सुननेके लिये अत्यन्त उत्सुक हो गये हैं और यही उनका एकान्त अभीष्ट है। श्रीकृष्णलीलाकी कथाके सम्बन्धमें प्रश्न करनेके

उद्देश्यसे ही वे श्रीशुकदेवजीके पूर्वोक्त विषयका अनुमोदन करके क्रमशः अभीष्ट पथमें अग्रसर हो रहे हैं। इसी कारण 'पहले चन्द्र और सूर्यवंशका वृत्तान्त सुन चुका हूँ'—यह कहकर संकेत किया है कि 'इस विषयमें उनको कोई जिज्ञासा नहीं रह गयी है।' इसके बाद कहते हैं कि 'हे मुनिसत्तम! आपने धर्मात्मा यदुके वंशका जो वर्णन किया है, उसे भी मैंने सुना है।' महाराज परीक्षित्की यह बात गम्भीर उद्देश्यसे पूर्ण है। उन्होंने 'मुनिसत्तम!' पदसे सम्बोधन करके बतलाया है कि 'आपने जो वर्णन किया है तथा मैं जो प्रश्न करूँगा, उसका उत्तर देनेकी शक्ति मुनिसत्तमके सिवा अन्य किसीमें सम्भव नहीं है।' जो विश्वातीत सच्चिदानन्द वस्तुका मनन करनेमें रत रहते हैं, वे 'मुनि' हैं। मुनियोंमें जो श्रीगोविन्दके भक्त हैं, वे 'सत्' हैं, जो निरन्तर श्रीगोविन्दके चरणोंके भजनमें रत रहते हैं, वे 'सत्तर' हैं तथा जो दास्य-सख्य आदि सम्बन्धसे श्रीगोविन्दके चरणोंमें निरन्तर रत रहते हैं, वे 'सत्तम' हैं। महाराज परीक्षित्के मनका भाव यह है कि "हे गुरो! आप 'मुनिसत्तम' हैं, अर्थात् श्रीगोविन्दके चरणोंके साथ प्रेम-सम्बन्धमें बँधकर आप निरन्तर उनकी लीलावलीका मनन करते हैं। ब्रह्मा, शिव, अनन्त आदिके लिये दुर्ज्ञेय होनेपर भी श्रीगोविन्दकी मधुर लीलाका आप अनवरत प्रेमसम्बन्धके बलसे अनुभव करते हैं। अतएव श्रीकृष्णलीलाका वर्णन करके मुझको कृतार्थ करनेमें एकमात्र आप ही समर्थ हैं।"

महाराज परीक्षित्ने यदुको 'धर्मात्मा' कहकर भक्तिपथका एक अपूर्व सिद्धान्त दिखलाया है। यदुके चरितकी आपाततः समालोचना करनेपर उनको 'धर्मात्मा' नहीं कहा जा सकता। उनके पिता ययातिने शुक्राचार्यके शापसे जराग्रस्त होकर शुक्राचार्यके चरणोंमें गिरकर प्रार्थना की। उन्होंने कृपा करके आदेश दिया—'यदि कोई तुम्हारी वृद्धावस्था ले ले तो तुम उसको अपनी वृद्धावस्था अर्पण करके नवयौवन और स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हो।' तब ययातिने अपने पुत्र यदुको वृद्धावस्था ग्रहण करनेके लिये कहा। परंतु यदुने उसे स्वीकार नहीं किया, बहाना करके पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया।

महाराज परीक्षित्ने पिताके आदेशका उल्लङ्घन करनेवालेको भी 'धर्मात्मा' कहा है। इसका कारण यह है कि श्रीभगवान्ने अपने श्रीमुखसे उद्धवजीसे कहा था—'धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तः' अर्थात् 'जिससे मेरे प्रति भक्ति-सम्बन्ध हो, वही धर्म है।' यदुने पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके भक्ति-सम्बन्धकी मर्यादाकी रक्षा की। पिताके आदेशको सुनकर यदुने सोचा कि 'जिस दिन मैंने श्रीकृष्ण-मन्त्र ग्रहण किया, उसी दिन देह और सारे दैहिक सम्बन्धको श्रीकृष्णके चरणोंमें अर्पित कर दिया। अतएव इस शरीरके द्वारा केवल श्रीकृष्ण-सेवाके कर्म ही किये जायँगे। जरा-ग्रस्त होनेपर श्रीमन्दिरका मार्जन, पुष्प, तुलसीदल आदिका चयन, जल-कलशका वहन करना आदि श्रीकृष्ण-सेवाके कार्योंसे वञ्चित होना पड़ेगा। अतएव पिताके आदेशका उल्लङ्घन करके भी भक्ति-मर्यादाकी रक्षा करना मेरा एकमात्र कर्तव्य है।' 'पद्मपुराण'में श्रीभगवान्ने कहा है—

> मन्निमित्तं कृतं पापमपि धर्माय कल्पते।
> मामनादृत्य धर्मोऽपि पापः स्यान्मत्प्रभावतः॥

'मेरे निमित्त किया हुआ (गुरुकी आज्ञाका उल्लङ्घनादि-रूप) पाप भी धर्म हो जाता है तथा मेरा अनादर करके किया हुआ धर्म भी पाप हो जाता है।'*

यदुने श्रीकृष्ण-सेवाके लिये पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया। अतएव श्रीभगवान्के आदेशसे वह 'धर्म' ही है। यदुने यदि अपने सुख-भोगकी लालसासे पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया होता तो वे अधर्म करते; इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। 'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया—गुरुजनके आदेशको बिना सोचे-विचारे पालन करना चाहिये।' इस शास्त्रवचनका उद्देश्य यह है कि 'गुरुजनकी शास्त्रसम्मत आज्ञाका बिना सोचे-विचारे पालन करना चाहिये; शास्त्र-विरुद्ध आज्ञा होनेपर उसका पालन नहीं करनेपर दोष नहीं लगता। गुरुजन शास्त्र-विरुद्ध आज्ञा दें तो मनमें सोचना पड़ेगा कि क्या मेरे धर्मकी परीक्षाके लिये इस प्रकारका आदेश दिया गया है।' ययातिने यदुको जो आदेश दिया था, वह पूर्णतः समीचीन नहीं जान पड़ता; क्योंकि ययातिने अपने पुत्रके नवयौवन और स्वास्थ्यके द्वारा जो कामोपभोगकी बात सोची थी, वह धर्मविरुद्ध थी।

* पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन पाप है; प्रह्लादने भी पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया था, किंतु भगवान्के लिये, भगवद्भजनके लिये; अतः भगवत्सम्बन्धके कारण वह 'पाप' न होकर 'धर्म'-रूप हो गया।

भक्तचूड़ामणि महाराज परीक्षित्‌ने इस अपूर्व भक्ति-सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर ही यदुको 'धर्मात्मा' कहकर श्रीगुरुदेवका आनन्दवर्धन किया है।

दशम स्कन्धमें श्रीकृष्णका लीला-विन्यास—

इस स्कन्धमें श्रीकृष्णकी लीला तीन प्रकारसे वर्णित है—व्रजलीला, मथुरा-लीला और द्वारका-लीला। दशम स्कन्धकी अध्याय-संख्या नब्बे है। इसमें प्रथम चार अध्यायोंमें ब्रह्माकी प्रार्थनासे पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये श्रीकृष्णका जन्म तथा पाँचवें अध्यायसे उनचालीसवें अध्यायतक व्रजलीला, चालीसवें अध्यायमें यमुनाके जलमें अक्रूरकृत श्रीकृष्णकी स्तुति, इकतालीससे इक्यावन अध्याय-तक मथुरा-लीला तथा बावनसे नब्बे अध्यायतक द्वारका-लीला वर्णित है।

यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम। तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः॥ २॥

अन्वय—(हे) मुनिसत्तम! (प्रेमावेशेन निरन्तरश्रीकृष्णलीलामननशील!), धर्मशीलस्य (सर्वाग्रहं परित्यज्य श्रीकृष्णभक्तावेव निष्ठाप्राप्तस्य), यदोश्च (यस्य वंशे श्रीकृष्णोऽवतीर्णस्तस्य यदुनामकस्य ययातिपुत्रस्य च), (वंशविस्तारः कथित इति पूर्वेणान्वयः), तत्र (धर्मशीलत्वादेव तत्र यदोर्वंशे), अंशेन (श्रीबलदेवेन सह), अवतीर्णस्य (गोलोकाख्यनिजपरमलोकात् प्रपञ्चे अभिव्यक्तस्य), विष्णोः (व्यापकतापर्यवसानस्य स्वयं भगवतः श्रीकृष्णस्य), वीर्याणि (महाप्रभावमयचरितानि), किं वा नः (अस्माकं कुलदैवतस्य), विष्णोः (श्रीकृष्णस्य वीर्याणि शंस); (अथवा) अंशेन विष्णोः (यत्र श्रीकृष्णः जगत्पालनार्थम् अंशेन विष्णुर्भवति तस्य), वीर्याणि शंस; (यद्वा) विष्णोः वीर्याणि अंशेन (सहस्रवदनेनापि साकल्येन तेषां वक्तुमशक्यत्वात्, मम च आयुषः अल्पावशिष्टत्वात्, भवता वर्णितानामपि मत्कर्तृकश्रवणासम्भवात् कतिपयलीलामात्रं शंस)॥ २॥

मूलानुवाद—हे मुनिसत्तम! आपने धर्मशील (भक्तश्रेष्ठ) यदुके वंशका वर्णन किया है। उसी परम धर्मात्मा यदुके वंशमें बलदेवके साथ अवतीर्ण होकर श्रीकृष्णने जो परम अद्भुत लीलाएँ की थीं, उनका हमलोगोंके निकट वर्णन कीजिये॥२॥

अवतीर्य यदोर्वंशे भगवान् भूतभावनः। कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात्॥ ३॥

अन्वय—भूतभावनः (भूतानि भावयति प्रेमदानेन पालयतीति तथा; प्रेमदानेन सर्वजगत्पालक इत्यर्थः), विश्वात्मा (चेतनादिशक्तिप्रेरकत्वेन सर्वेषामेव स्वाभाविकहितकर्ता 'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्' इति परमसिद्धान्तेन सर्वात्मनामात्मत्वात् सर्वेषामेव प्रेमविषयः), भगवान् (सर्वैश्वर्यपरिपूर्णः श्रीकृष्णः), यदोः (यदुनामकभक्तचूडामणेः), वंशे (अन्वये), अवतीर्य (आविर्भूय), यानि (परमान्तरङ्गाः लीलाः), कृतवान् (अकरोत्), तानि (सर्वाण्येव), नः (अस्माकं निकटे), विस्तरात् (प्रयोजनादिनिर्देशपूर्वकम्), वद (संकीर्तय), (अत्र सर्वाण्येव वदेत्युक्तिः परमलालसयैवेति द्रष्टव्यम्)॥ ३॥

मूलानुवाद—प्रेमदान करके जगत्का पालन करनेवाले तथा सबके स्वाभाविक हितकारी सर्वैश्वर्यमय श्रीकृष्णने यदुवंशमें अवतीर्ण होकर जो परम अन्तरङ्ग लीलाएँ की थीं, उन्हें प्रयोजन आदिका निर्देश करते हुए हमारे निकट विस्तारपूर्वक कहिये॥ ३॥

श्रीभागवतामृतवर्षिणी व्याख्या—पूर्व श्लोकमें महाराज परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेवजीके पूर्वोक्त विषयोंका अनुमोदन करके और परम उपादेय रूपमें समर्थन करके यह अभीष्ट प्रश्न किया—

'तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोः वीर्याणि शंस नः—आपके द्वारा पहले कथित धर्मात्मा यदुके वंशमें अंशके साथ अवतीर्ण विष्णुके अत्यन्त प्रभावशाली चरितका आप हमारे लिये वर्णन करें।'

महाराज परीक्षित्‌की यह प्रार्थना श्रीकृष्ण-लीलाकथा-श्रवण करनेकी प्रबल उत्कण्ठासे पूर्ण है तथा उनकी प्रत्येक बातमें भक्ति-सिद्धान्तकी छटा है। महाराज परीक्षित् कहते हैं 'तत्र'—अर्थात् आपके द्वारा पूर्वकथित तथा मेरेद्वारा 'धर्मात्मा' कहकर समर्थित हुए यदुवंशमें। श्रीभगवान्‌की लीला दो प्रकारकी होती हैं—ऐश्वर्यमयी और माधुर्यमयी। जिस लीलामें श्रीभगवान् कहीं भी जन्म ग्रहण नहीं करते, अथवा किसीके साथ माता-पिता, भाई आदिका सम्बन्ध नहीं रखते, केवल अपने अचिन्त्य ऐश्वर्य-प्रभावसे भक्तकी मनःकामना पूरी करनेके लिये अवतीर्ण होते हैं, श्रीभगवान्‌की

वह लीला 'ऐश्वर्यमयी' कहलाती है। जिस लीलामें वे जन्म ग्रहण करते हैं तथा माता-पिता आदि सम्बन्धका अनुगमन करते हुए भक्तका मनोरथ पूर्ण करते हैं, वह लीला 'माधुर्यमयी' कहलाती है। श्रीभगवान् जिनके साथ सम्बन्ध स्थापित करेंगे, वे किसी भी प्रकारसे अधार्मिक नहीं हो सकते; अथवा यों कह सकते हैं कि प्रबल धर्मबलके बिना कभी श्रीभगवान्के साथ सम्बन्ध नहीं जुट सकता। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके स्वामी श्रीभगवान् क्या कभी किसी बहिर्मुख, आत्मसुखरत व्यक्तिको माता या पिता आदि बना सकते हैं? जिनके प्रत्येक कर्म, प्रत्येक विचार, प्रत्येक वचनका उद्देश्य केवल श्रीकृष्ण-सेवामात्र है, उनके ही साथ भगवान्के ऐसे सम्बन्ध हो सकते हैं। इसी कारण श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्ध८।३२में कुन्तीदेवी श्रीभगवान्की स्तुति करती हुई कहती हैं—'यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम्'—अर्थात् 'चन्दन जैसे मलयगिरिपर ही उत्पन्न होता है, उसी प्रकार तुम भी अपने परम प्रिय भक्तके कुलमें ही जन्म लेते हो। इसी कारण इस बार आपने भक्तचूड़ामणि यदुके वंशमें जन्म ग्रहण किया है।'

यदु श्रीभगवान्के परम प्रिय थे; महाराज परीक्षित्ने 'तत्र' पदके द्वारा इसी परमतत्त्वकी ओर संकेत किया है। श्रीभगवान्ने भक्तचूड़ामणि यदुके वंशमें वसुदेवके पुत्रके रूपमें जन्म लिया था। महाराज परीक्षित्ने 'जन्म-ग्रहण' न कहकर 'वे अवतीर्ण हुए'—ऐसा कहा है। यहाँ इतना ही कहना है कि श्रीभगवान्का जन्म जीवके समान उत्पन्न होना नहीं है, बल्कि आविर्भावमात्र है। जीव-देह मातृगर्भसे उत्पन्न होता है। श्रीभगवान्का सच्चिदानन्दमय श्रीविग्रह उत्पन्न नहीं होता, वह नित्यसिद्ध है। वात्सल्य-प्रेमी भक्त-चूड़ामणिके वात्सल्यरसका आस्वादन करनेके लिये श्रीभगवान् जन्मका अनुकरण करके आविर्भूत होते हैं। बहिर्मुख जीव इसी कारण अप्राकृतिक श्रीभगवान्की श्रीमूर्तिको 'पाञ्चभौतिक' कहा करते हैं; वे इस मधुर लीलाके निगूढ मर्मको नहीं समझ पाते—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
(गीता ९।११)

श्रीभगवान्के प्रेममुग्ध माता-पिता आदि आत्मीयजन भी अपने-अपने सम्बन्धके अनुसार ही बर्ताव करते हैं, परंतु उनमें बहिर्मुख जीवके समान अवज्ञा या अनादरका भाव नहीं होता। टीकाकार श्रीसनातन गोस्वामीपादने अपनी 'वैष्णवतोषणी' टीकामें 'अवतीर्णस्य' पदकी व्याख्या इस प्रकार की है—'गोलोकाख्यनिजपरमलोकात् प्रपञ्चेऽभिव्यक्तिमागतस्य'—'अवतीर्ण अर्थात् गोलोक नामक निज परम धामसे प्रपञ्चमें अभिव्यक्त हुए (भगवान्की लीलाएँ हमसे कहिये)।'

श्रीभगवान् चिन्मय निर्विशेष ब्रह्मरूपमें सर्वत्र अवस्थित हैं, अन्तर्यामिरूपसे सब जीवोंके हृदयमें अवस्थित हैं तथा वैकुण्ठ आदि धाममें लीलामय चिद्विग्रहरूपमें अवस्थित हैं। जहाँ श्रीभगवान् लीलामय रूपमें अवस्थान करते हैं, उस स्थानको ही उनके 'गोलोक' या 'धाम'के रूपमें शास्त्रकारगण निर्देश करते हैं। ब्रह्माण्ड और जीवके हृदयमें वे ब्रह्मरूपमें तथा अन्तर्यामिरूपमें अवस्थित हैं, तथापि ये उनके लोक या धाम नहीं कहला सकते। श्रीभगवान्का धाम ब्रह्माण्डके समान मायिक वस्तु नहीं है; वह प्रकृतिसे परे सच्चिदानन्दमय स्थान है। 'गोपालतापनी उपनिषद्'में कहा गया है—'स हि भगवान् कुत्र तिष्ठति?—वे श्रीभगवान् कहाँ अवस्थित हैं?' इस प्रश्नका उत्तर है—'महिम्नि स्वे—अपनी महिमामें अर्थात् निज स्वरूपभूत त्रिपाद्विभूतिमय धाममें वे अवस्थान करते हैं।' जैसे अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त जीव अपने-अपने कर्मफलको भोग रहे हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान् भी अनन्त मूर्तियोंमें अनन्त वैकुण्ठोंमें अनन्त लीलारसोंका आस्वादन कर रहे हैं। यद्यपि 'एकमेवाद्वितीयम्' आदि श्रुतिकी आलोचना करनेपर ज्ञात होता है कि ब्रह्म एक है, तथापि 'एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति' आदि श्रुतियोंसे स्पष्ट जाना जाता है कि वह एक होकर भी एकरूपमें ही अभिव्यक्त नहीं है। वे भगवान् अनन्त वैकुण्ठमें अनन्त श्रीमूर्तिमें प्रकट होकर लीला-रसास्वादन करते हैं। अनन्त वैकुण्ठमें—गोलोक नामक वैकुण्ठधाममें ही उनकी लीलाकी परिपूर्णता है; क्योंकि वहाँके सभी पार्षद ऐश्वर्य-ज्ञानके गन्धसे भी रहित केवल शुद्ध माधुर्यमय होते हैं। इसी कारण गोलोकधाम उनका 'परम लोक' अर्थात् श्रेष्ठ लोक कहलाता है। ब्रह्मसंहिता ५।४३ में लिखा है—

गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य
देवीमहेशहरिधामसु तेषु तेषु।
ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

'जिन्होंने गोलोक-नामक निजधाममें तथा उसीके निम्न भागमें स्थित देवी, महेश और हरिके धामोंमें भिन्न-भिन्न लीलाएँ प्रकट की हैं, उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ।'

श्रीचैतन्यचरितामृत-ग्रन्थमें गोलोकधामके सम्बन्धमें लिखा है—

सर्वोपरि श्रीगोकुल व्रजलोक धाम।
गोलोक श्वेतद्वीप वृन्दावन नाम॥
सर्वग अनन्त विभु कृष्णतनु सम।
उपर्यधो व्यापि आछे नाहिक नियम॥
ब्रह्माण्डे प्रकाश तार कृष्णेर इच्छाय।
एकइ स्वरूप तार नाइँ दुइ काय॥

श्रीभगवान् इसी गोलोक-नामक धाममें गो, गोप तथा गोपियोंके साथ नित्यलीला-विलास करते हैं। कभी-कभी जगत्‌को कृतार्थ करनेके लिये ये धाम, पार्षद और लीलाएँ ब्रह्माण्डमें भी प्रकाशित होती हैं।

अष्टाविंश चतुर्युगे द्वापरेर शेषे।
व्रजेर सहित हय कृष्णेर प्रकाशे॥

श्रीचैतन्यचरितामृतके इस सिद्धान्तमें यह तत्त्व स्पष्टतः समझमें आ जाता है। जिस समय श्रीभगवान्‌की यह अप्राकृत धाम, पार्षद और लीला ब्रह्माण्डमें प्रकट होती है, उसी समय यह व्यवहारमें आता है कि भगवान्‌ने अवतार लिया है। श्रीमद्भागवत (१० । १४ । ३७) की 'ब्रह्मस्तुति' में देखा जाता है—

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले।
प्रपन्नजनतानन्दसंदोहं प्रथितुं प्रभो॥

'हे भगवन्! आप प्रपञ्च अर्थात् प्राकृतिक जगत्‌से परे होकर भी ठीक प्राकृतके अनुकरणमें प्राकृत जगत्‌में प्रकट हो लीला-विहार करते हैं। आपके श्रीचरणोंके आश्रित भक्त-वृन्दका आनन्द बढ़ानेके लिये ही आपकी यह करुणालीला प्रवर्तित होती है।'

'तत्रांशेनावतीर्णस्य' इस श्लोकांशके तात्पर्यकी आलोचना करनेपर ज्ञात होता है कि अप्राकृतिक धाममें विहार करनेवाले श्रीभगवान् प्रपञ्चरत भक्तजनोंको कृतार्थ करनेके लिये परम धर्मशील यदुवंशको कृतार्थ करके अवतीर्ण हुए थे। उनका यह अवतार ब्रह्माण्डमें आत्मप्रकाशमात्र है। प्राकृत जीवके समान उनके जन्म आदि सम्भव नहीं हैं; क्योंकि 'अनादि-रादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्।' (ब्रह्मसंहिता ५ । १) अर्थात् श्रीगोविन्द अनादि हैं; आदिमें वे ही रहते हैं; वे ही सब कारणोंके कारण हैं।

धर्मात्मा यदुके वंशमें श्रीभगवान् किस रूपमें अवतीर्ण हुए थे, यह प्रश्न करते समय महाराज परीक्षित्‌ने 'अंशेन' इस पदका प्रयोग किया है। इस 'अंशेन' पदकी आलोचना करनेसे जान पड़ता है कि श्रीभगवान् अंश और पूर्ण—द्विविधरूपमें अवतीर्ण होते हैं। यद्यपि श्रीभगवान्‌के अंश और पूर्णमें स्वरूपतः कोई भेद नहीं है, तथापि 'लघुभागवतामृत' ग्रन्थमें लिखा है—

'शक्तेर्व्यक्तिस्तथाव्यक्तिस्तारतम्यस्य कारणम्।'

श्रीभगवान् अचिन्त्य-अनन्त-शक्तिसमन्वित हैं; वे किसी मूर्तिमें सारी शक्तियोंको प्रकट करते हुए लीला करते हैं और किसी मूर्तिमें किंचित् अल्पशक्ति प्रकट करते हुए लीला करते हैं। इस शक्ति-प्रकाशके तारतम्यके अनुसार किसी मूर्तिमें पूर्ण तथा किसी मूर्तिमें अंशरूपसे प्रकट होनेकी शास्त्र उद्भावना करते हैं। यदुवंशमें भगवान् किस रूपमें अवतीर्ण हुए थे, इसको श्लोकस्थ 'अंश' पदसे जान सकते हैं; अर्थात् वे अंशरूपमें अवतीर्ण हुए थे। विशेषतः श्रीमद्भागवत (१० । ३८ । ३२)के 'अंशेन बलकेशवौ', 'अथाह-मंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे। 'श्रीविष्णुपुराण २ । १ । ६०) 'प्राप्स्यामि' (१० । २ । ९) तथा 'उज्जहारात्मनः केशौ सितकृष्णौ महामुने' एवं श्रीमहाभारत (आदि० १९६ । ३२ के 'स चापि केशौ हरिरुद्बबर्ह शुक्लमेक-मपरं चापि कृष्णम्' आदि श्लोक देखनेपर उनको अंशावतार अथवा श्रीनारायणके केशावतारके रूपमें समझा जा सकता है। इसी कारण श्रीधरस्वामीपादने 'अंशेन' पदकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'अंशेनेति प्रतीत्यभिप्रायेणोक्तम्' अर्थात् 'अंशेन' पद लोक-प्रतीतिके अनुसार कहा गया है। श्रीसनातनगोस्वामीपादने श्रीधरस्वामीपादके अभिप्रायको ही व्यक्त किया है कि 'प्रतीतिस्तु साधारणजनानामेव ज्ञेया' अर्थात् यहाँ प्रतीति साधारण लोगोंकी प्रतीति ही समझनी चाहिये। श्रीधरस्वामीपादने जो कहा है कि 'अंशेन' पद 'लोक-प्रतीतिके अनुसार अंश-अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है।' इसका मर्म यह है कि साधारण लोग अर्थात् जो श्रीकृष्ण-तत्त्वके विशेषज्ञ नहीं हैं, वे ही उनको अंशावतारके रूपमें जानते हैं। महाराज परीक्षित् प्रश्न करते समय साधारण

लोक-प्रतीतिमें बाधा न देकर तदनुसार ही बोल गये हैं। महाराज परीक्षित्के इस प्रकार कहनेका उद्देश्य यही है कि 'उनकी गङ्गा-सभामें जो लोग उपस्थित थे, वे सभी तत्त्वज्ञ नहीं थे; उनमें अधिकांश श्रीकृष्णको अंशावतारके रूपमें ही जानते थे। वे यदि प्रश्न करते समय उनकी धारणाके विरुद्ध कोई बात बोल्ते तो श्रीकृष्णकथा-सम्बन्धी प्रश्नके प्रथम चरणमें ही वे संदिग्ध हो उठते और इससे उनका चित्त चञ्चल हो उठता और वक्ताके उल्लासमें बाधा पड़ती। अतएव इस रूपमें प्रश्न किया कि किसीको किसी प्रकारका संदेह न रहे। जो लोग श्रीकृष्णलीलाके तत्त्वज्ञ थे, वे 'अंशेन' शब्दके प्रयोगसे ही प्रकृत तत्त्वको समझ सकते थे।'

'अंशेन' शब्दका आपात अर्थ लेकर यदि कोई श्रीकृष्णको अंशावतार समझता है तो 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'— इस श्रीमद्भागवतके अवतार-निर्णायक श्लोकके साथ विरोध होता है।

> रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्
> नानावतारमकरोद् भुवनेषु किंतु।
> कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो
> गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
> (ब्रह्म० ५। ३९)

जो श्रीरामादि अवतारोंमें अल्पशक्ति प्रकट करके ब्रह्माण्डमें नाना प्रकारकी लीला करते हैं तथा श्रीकृष्णरूपमें पूर्णशक्ति प्रकट करके स्वयं अवतीर्ण होते हैं, उन आदि-पुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ।' इस 'ब्रह्मसंहिता'-के श्लोकसे भी ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण अंशावतार नहीं हैं। 'अंशेन' पदका आपात अर्थ करनेपर 'ब्रह्मसंहिता'के श्लोकके साथ भी महाविरोध उपस्थित हो जाता है। अतएव 'अंशेन' पदके आपाततः प्रतीत अर्थका परित्याग करना ही समीचीन है।

> 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।'
> (गीता ७। २५)

'योगमायाके आवरणमें मैं सबके द्वारा दृश्यमान नहीं होता।' इस गीताके वचनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रीभगवान्को सब लोग पूर्णरूपमें नहीं जान सकते। जिसका जितना ही योगमायाका आवरण अपसारित होता है, वह उतना ही श्रीभगवान्को जान पाता है।—इस सिद्धान्तके अनुसार श्रीसनातनगोस्वामीपादने 'अंशेन अवतीर्णस्य' इस पादांशकी एक और व्याख्या की है—'असर्वसुबोधस्वभावस्य' अर्थात् जिसका स्वरूप सबके लिये सुबोध नहीं है, जिसको पूर्णरूपसे जाननेमें सब समर्थ नहीं होते।'

'अंशेन' पदकी प्रकारान्तरसे योजना करके टीकाकार श्रीविश्वनाथचक्रवर्तीपादने व्याख्या की है कि—'तत्र यदोर्वंशे अवतीर्णस्य आविर्भूतस्य विष्णोः स्वयं भगवतः श्रीकृष्णस्य वीर्याणि अंशेन शंस। साकल्येन वक्तुं श्रोतुं वा न कस्यापि शक्तिरित्यर्थः।'—'स्वयं भगवान्ने श्रीयदुवंशमें अवतीर्ण होकर जो-जो लीलाएँ की हैं, उनके कुछ अंशका मुझसे वर्णन कीजिये; क्योंकि उन लीलाओंका सम्पूर्णतः वर्णन करनेकी शक्ति किसीमें नहीं है।' यही व्याख्याका प्रतिपाद्य है—

> जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः।
> न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमनन्तत्वान्मयापि हि॥
> (श्रीमद्भागवत १०। ५। ४७)

'मेरे जन्म, लीला और नाम असंख्य हैं; अतएव मैं भी उन सबका पूर्णतया वर्णन नहीं कर सकता।'— श्रीभगवान्की इस उक्तिसे स्पष्ट जाना जाता है कि उनका पूर्ण वणन तथा श्रवण असम्भव है। इसी कारण महाराज परीक्षित्ने यह प्रार्थना की है कि—'अंशेन शंस'—'मेरे सप्ताहकालरूपी परमायुके तीन दिन बीत गये हैं, शेष चार दिनमें मैं और कितना सुनूँगा; अतएव उस अनन्त लीलाका कुछ अंश मुझसे वर्णन कीजिये।'

'व्याख्यालेश' नामक श्रीमद्भागवतकी एक अप्रकाशित प्राचीन टीका है। उसमें 'अंशेन' शब्दकी व्याख्या मिलती है—'अंशानां मत्स्याद्यवतारवृन्दानाम् इनः प्रभुः अंशीत्यर्थः— जो मत्स्यादि अंशोंके 'इन' अर्थात् प्रभु हैं, वे 'अंशेन' हैं।'' इस व्याख्यामें 'अंशेन' पद विष्णुका विशेषण है, 'अंशेनविष्णोः—सर्वावतारावतारिणः श्रीकृष्णस्य—यही इस व्याख्याका प्रतिपाद्य है।

श्रीमद्भागवतके प्रत्येक श्लोकका प्रत्येक शब्द कामधेनु-तुल्य है। उसका जो जिस भावसे दोहन करेगा, उसे उसी भावसे अमूल्य सिद्धान्तकी प्राप्ति होगी, इसमें संदेह नहीं है। टीकाकारोंने कृपा करके इस प्रकार अनेक सिद्धान्तोंको व्यक्त किया है। सबको प्रकट करना असम्भव है, यहाँ यथासाध्य कुछ प्रकाशमें लाये गये हैं।

श्लोकस्थ 'विष्णु' शब्दकी कुछ आलोचना होना ठीक है। 'विष्णु' कहनेपर आपाततः वैकुण्ठपति विश्वप्रतिपालक नारायणका बोध होता है। विष्णु और श्रीकृष्णमें क्या भेद है, इसकी भी लोग विवेचना नहीं करते तथा बहुतोंकी यह धारणा है कि विष्णु ही श्रीकृष्णरूपमें अवतीर्ण हुए हैं। इस कारण श्रीसनातनगोस्वामिपादने व्याख्या की—'विष्णोः व्यापकतापर्यवसानस्य स्वयं भगवतः श्रीकृष्णस्य।' 'विष्णु' शब्दके धातु-प्रत्यय आदिका विश्लेषण करके अर्थ करनेसे ज्ञात होता है—'वेवेष्टि—प्राकृताप्राकृतं सर्वं व्याप्नोतीति विष्णुः।' *

श्रीधरस्वामी, श्रीवीरराघवाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीसनातनगोस्वामी, श्रीजीवगोस्वामी, श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती आदि श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धके जितने टीकाकार हैं, उनमें कोई भी श्रीकृष्णको अंशावतार नहीं मानते। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'—इस मूलमन्त्रका अवलम्बन करके नाना प्रकारसे 'तत्रांशेनावतीर्णस्य' आदि श्लोककी व्याख्या करते है। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं; परंतु उनके ऐश्वर्य, माधुर्य और स्वरूपकी परिपूर्णताको सब लोग ग्रहण नहीं कर सकते। इसी कारण साधारण आदमीकी दृष्टिमें वे अंश हैं, इस भावको लेकर श्रीधरस्वामिपाद तथा श्रीसनातनगोस्वामिपादने जो कुछ कहा है, उसकी पहले चर्चा हो चुकी है। टीकाकारगण केवल इतनी ही आलोचना करके 'अंशेन' पदको नहीं छोड़ते; उन्होंने और भी कुछ रहस्योद्घाटन किया है। श्रीसनातनगोस्वामिपाद और श्रीजीवगोस्वामिपाद कहते हैं कि 'अंशेन' इस पदमें जो 'सहार्थे तृतीया' विभक्ति है, उसके द्वारा 'अंशेन श्रीबलदेवेन सह'—यह अर्थ प्राप्त होता है।' श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धमें जिस प्रकार श्रीकृष्ण-लीला वर्णित है, उसी प्रकार श्रीबलदेवकी भी अनेक लीलाएँ वर्णित हैं। विशेषतः श्रीबलदेवकी लीलासे श्रीकृष्णलीलाके माधुर्यका पोषण होता है, अतएव महाराज परीक्षित्के प्रश्नमें उनकी कथाका उल्लेख होना नितान्त युक्तिहीन अथवा असम्भव नहीं है। दस अवतारोंकी गणनामें श्रीबलदेवके नामका उल्लेख मिलता है; अतएव उनको अंशावतार कहनेसे शास्त्र-विरोधकी भी आशङ्का नहीं है। 'धर्मात्मा यदुके वंशमें श्रीबलदेवके साथ अवतीर्ण श्रीकृष्णकी लीलाका वर्णन मुझसे कीजिये'—यही इस व्याख्याका तात्पर्य है।

* जो प्राकृत और अप्राकृत सबमें व्याप्त हैं, वह 'विष्णु' है।

श्रीविश्वनाथचक्रवर्तिपादने 'अंशेन' पदकी अन्य प्रकारसे योजना करके और भी एक प्रकारकी व्याख्या की है। उसमें 'तत्र यदोर्वंशे अवतीर्णस्य आविर्भूतस्य अंशेन विष्णोः यः खलु अंशेन विष्णुर्भूत्वा जगत्पालयति तस्य स्वयं भगवतः श्रीकृष्णस्य वीर्याणि नः शंस'—इस प्रकार अन्वय करके श्लोकका अर्थ लगानेकी चेष्टा की गयी है। 'जिनका अंश विष्णुरूपमें जगत्का पालन करता है, उन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाका वर्णन करें।' यही इस व्याख्याका प्रतिपाद्य है। स्वयं भगवान् गोलोकमें गो, गोप तथा गोपियोंके साथ नित्य लीला-विलास करते हैं; ब्रह्माण्डकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय आदि कार्य उनके अंशद्वारा निष्पन्न होते हैं, यही शास्त्र-सिद्धान्त है; अतएव यह व्याख्या असम्भव नहीं है। जो प्राकृत और अप्राकृत सबमें व्याप्त है, वह 'विष्णु' है; अतएव स्वयं भगवान् ही 'विष्णु' शब्दका मुख्य अर्थ है। अमरकोशमें भी लिखा है—'विष्णुर्नारायणः कृष्णः' आदि श्रीकृष्णके ही नाम हैं। यदि किसीके मनमें अन्य धारणा हो तो उसके निवारणके लिये आगे लिखते हैं—'वसुदेवोऽस्य जनकः'। अतएव विष्णु, नारायण, कृष्ण आदि नाम वसुदेवनन्दनके हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। वैकुण्ठपति स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके ही अंश हैं, अतएव उनमें 'विष्णु' शब्दका व्यवहार शास्त्र-विरुद्ध नहीं है। महाराज परीक्षित्ने 'विष्णु' शब्द स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके उद्देश्यसे ही व्यवहृत किया है, यह श्रीशुकदेवजीके द्वारा वर्णित लीलासे स्पष्ट समझा जा सकता है।

महाराज परीक्षित्ने श्रीकृष्णलीला-श्रवण करनेकी इच्छासे कहा—'विष्णोर्वीर्याणि शंस नः—श्रीकृष्णकी लीलाका मुझसे वर्णन कीजिये।' यहाँ 'मे' इस एकवचनान्त पदका व्यवहार न करके 'नः' इस बहुवचनान्त पदका व्यवहार करनेका उद्देश्य यह है कि वे श्रीकृष्णलीलाका प्रश्न करके अपनेको गौरवान्वित समझ रहे हैं, इसी कारण गौरवके लिये बहुवचनका व्यवहार किया है। अथवा वे अकेले सुमधुर श्रीकृष्णलीलाको श्रवण करना नहीं चाहते; अतएव प्रार्थना की कि 'नः' अर्थात् हम सबके लिये इसका वर्णन कीजिये। 'हम सबके लिये वर्णन कीजिये'—इस प्रार्थनामें महाराज परीक्षित्की सबके प्रति अपार कृपा तथा भक्तोचित विनय प्रकटित हो रही है। श्रीकृष्णलीला-कथा भक्तचूड़ामणिगणके गुप्त भंडारका धन है। महाराज उसे सबको बाँटनेके लिये प्रस्तुत हैं। 'हमसे वर्णन करें'—यह कहकर महाराज परीक्षित्ने वर्तमान

तथा भविष्यत्-श्रोतृवृन्दके ऊपर परम कृपा प्रदर्शित की है और उनको अपना संगी बना लिया है । श्रीभगवान्के भक्त विनयकी खान होते हैं । महाराज परीक्षित्की इस बातमें विलक्षण विनय प्रकटित हुई है । उनके मनका भाव यह है कि 'श्रीकृष्णलीलाकी कथा श्रवण करनेकी योग्यता मुझमें नहीं है; सब भक्तगणके लिये आप उसका वर्णन करें तो उनके सङ्गके प्रभावसे मेरा भी सुनना हो जायगा ।' प्रेमी भक्तगणके सामने जिस-किसी प्रकारसे श्रीकृष्णकथा कही जाय, वे सुनकर आनन्दमग्न हो जायँगे; परंतु प्रेमशून्य व्यक्तिको यह सौभाग्य नहीं प्राप्त हो सकता । उनसे यदि उनकी रुचिके अनुकूल भावसे कहा जाय तो वे कुछ माधुर्य ग्रहण करनेमें समर्थ होंगे । इसी कारण महाराज परीक्षित् प्रश्न करते समय कहते हैं कि 'शंस' अर्थात् लीलाके उत्कर्षको दिखलाते हुए वर्णन करें । वैसी दशामें मेरे-जैसा भक्तिशून्य जीव भी रस ग्रहण कर सकेगा ।''

'अप्रकट' और 'प्रकट' भेदसे श्रीभगवान्की लीला दो प्रकारकी होती है । श्रीभगवान् जगत्के जीवोंके अगोचर अपने नित्यधाममें जो लीला करते हैं, वह 'अप्रकट-लीला' है तथा जगत्के जीवोंके लिये दृश्यरूपमें जो लीला करते हैं, वह 'प्रकट-लीला' है । प्रकट-लीलामें श्रीभगवान् जगत्के जीवोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करके उनको कृतार्थ करते हैं । विशेषतः महाराज परीक्षित्का प्रकट-लीलाके साथ सम्बन्ध है; क्योंकि प्रकट-लीलामें श्रीभगवान् महाराज परीक्षित्की पितामही सुभद्राके भाई हैं; इसी कारण महाराज परीक्षित्ने प्रकट-लीलाको श्रवण करनेके विषयमें प्रश्न किया है । 'अवतीर्णं यदोर्वंशे' आदि श्लोककी आलोचना करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है । महाराज परीक्षित्ने श्रीकृष्णकी प्रकट-लीला सुननेकी अभिलाषासे उनके स्वरूपका वर्णन किया कि ''वे भगवान्' अर्थात् सारे ऐश्वर्योंसे पूर्ण हैं; जब जो इच्छा हो, उसे पूरा करनेमें समर्थ हैं; उनके ऐश्वर्यका प्रतिद्वन्द्वी कोई नहीं है; तथापि करुणाके वशवर्ती होकर उन्होंने 'यदुवंश' में जन्म लिया था । वे 'भूतभावन' हैं, अर्थात् सब जीवोंका पालन करना उनका स्वभाव है । वे 'विश्वात्मा' हैं, अर्थात् सब जीवोंके स्वभावतः हितकारी हैं । जीव उनके साथ सम्बन्ध रखे या न रखे, वे सबकी सारी इन्द्रियोंमें अन्तर्यामिरूपसे शक्ति-संचार करते हैं तथा चेतना-शक्ति प्रदान करके जीवित रखते हैं । जगत्का पालन करना ही उनकी लीलाका उद्देश्य है; इसमें तनिक भी संदेह नहीं है । अतएव हे गुरो ! इस परम करुणाकी लीलाका विस्तारपूर्वक वर्णन करके हमें कृतार्थ कीजिये । यद्यपि उनकी लीला अनन्त है, तथापि हमारी प्रबल लालसा हमको स्थिर रहनेकी शक्ति देती है तथा श्रवणको असम्भव नहीं समझने दे रही है, आप कृपा करके उसका वर्णन करें ।'' ॥ २-३ ॥

(शेषआगे)

श्रीमद्भागवतके सम्बन्धमें दो महापुरुषोंके अनुभव

मेरा विश्वास और अनुभव है कि श्रीमद्भागवतके पढ़ने और सुननेसे मनुष्यको ईश्वरका सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है और उनके चरण-कमलोंमें अचल भक्ति होती है । इसके पढ़नेसे मनुष्यको दृढ़ निश्चय हो जाता है कि इस संसारको रचने और पालन करनेवाली कोई सर्वव्यापक शक्ति है—

एक अनंत त्रिकाल सच, चेतन सक्ति दिखात । सिरजत, पालत, हरत जग, महिमा बरनि न जात ॥

और ग्रन्थोंसे क्या, जिन सुकृतियोंने पुण्यके कर्म कर रखे हैं और जो श्रद्धासे भागवतको पढ़ते या सुनते हैं, वे इसका सेवन करनेके समयसे ही भक्तिसे ईश्वरको अपने हृदयमें अविचलरूपसे स्थापित कर लेते हैं । ईश्वरका ज्ञान और उनमें भक्तिका परम साधन—ये दो पदार्थ जब किसी प्राणीको प्राप्त हो गये, तब कौन-सा पदार्थ रह गया, जिसके लिये मनुष्य कामना करे; और ये दोनों पदार्थ श्रीमद्भागवतसे पूरी मात्रामें प्राप्त होते हैं । इसीलिये यह पवित्र ग्रन्थ मनुष्यमात्रका उपकारी है । जबतक मनुष्य भागवतको पढ़े नहीं और उसकी इसमें श्रद्धा न हो, तबतक वह समझ नहीं सकता कि ज्ञान-भक्ति-वैराग्यका यह कितना विशाल समुद्र है ।

—महामना मदनमोहन मालवीय

* * *

आज मैं देख सकता हूँ कि 'भागवत' ऐसा ग्रन्थ है, जिसे पढ़कर धर्मरस उत्पन्न किया जा सकता है । मैंने गुजरातीमें उसको बड़े रससे पढ़ा है । परंतु मेरे इक्कीस दिनके उपवासमें जब मैंने भारतभूषण पण्डित मदनमोहन मालवीयजीके शुभ मुखसे भागवतके कुछ अंश सुने, तब मुझे ऐसा लगा कि बचपनमें इनके-जैसे भागवत-भक्तके मुखसे मैं सुनता तो भागवतपर मेरी प्रीति बचपनमें ही अच्छी हो जाती ।

—महात्मा गाँधी

'मधु वाता ऋतायते'

(लेखक—अनन्तश्री अनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज)

ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके चौदहवें अध्याय एवं नवतितम (९० वें) सूक्तमें 'मधु वाता ऋतायते' इत्यादि तीन ऋचाएँ हैं। तीन ऋचाओंके समूहको 'तृच' कहते हैं। इन ऋचाओंका पाठ इस प्रकार है—

१–मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥

२–मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवꣳ रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥

३–मधुमान्नो वनस्पतिः मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥

अब इनका पदपाठ दिया जा रहा है—

१–मधु, वाताः, ऋतायते, मधु, क्षरन्ति, सिन्धवः, माध्वीः, नः, सन्तु, ओषधीः।

२–मधु, नक्तम्, उत, उषसः, मधुमत्, पार्थिवम्, रजः, मधु, द्यौः, अस्तु, नः, पिता।

३–मधुमान्, नः, वनस्पतिः, मधुमान्, अस्तु, सूर्यः, माध्वीः, गावः, भवन्तु, नः।

अब इन मन्त्रोंके अन्वयपर दृष्टिपात कीजिये—

१–ऋतायते वाताः मधु क्षरन्ति, सिन्धवः मधु क्षरन्ति, नः ओषधीः माध्वीः सन्तु।

२–नक्तम् मधु अस्तु; उत उषसः मधूनि सन्तु; पार्थिवम् रजः मधुमत् अस्तु; नः पिता द्यौः मधु अस्तु।

३–वनस्पतिः मधुमान् अस्तु; सूर्यः मधुमान् अस्तु; नः गावः माध्वीः भवन्तु।

इनके ऋषि, छन्द और देवता

इस 'तृच'के गौतम ऋषि, गायत्री छन्द एवं मधु देवता हैं।

टुप् टीका

इस 'तृच'का विस्तृत रूपसे भाष्य आगे प्रस्तुत किया जायगा। पहले सरलतासे पद-पदार्थोंका बोध करानेके लिये 'टुप् टीका' दी जाती है। अतिशय संक्षिप्त व्याख्याको 'टुप् टीका' कहते हैं।

१–ऋतायते–प्राकृत नियमोंके अनुकूल चलनेवाले मानवके लिये; वाताः–वायुगण; मधु–माधुर्यको; क्षरन्ति–चुवाते हैं। सिन्धवः–नदियाँ अथवा समुद्र भी; मधु–माधुर्य; क्षरन्ति–चुवाते हैं। नः–प्राकृत नियमोंके अनुकूल चलनेवाले हमलोगोंके लिये; ओषधीः–अन्नवर्ग भी; माध्वीः–मधुर रससे सम्पन्न; सन्तु—हों।

२–नक्तम्–रात्रि; मधु–सुखमय; अस्तु—हो। उत—और; उषसः–दिन; मधु–मधुर; सन्तु—हों। पार्थिवम्–पृथिवी-सम्बन्धी; रजः–प्रत्येक रजःकण; मधुमत्–सुख-सम्पन्न; अस्तु–हो जाय। नः–हमारे (हम प्राणियोंके) लिये; पिता–जनक; द्यौः–द्युलोक भी; मधु–सुखरूप; अस्तु–हो।

३–नः–हमलोगोंके लिये; वनस्पतिः—चन्द्रमा अथवा वृक्ष; मधुमान्–मधु-सम्पन्न; अस्तु–हो जावें। सूर्यः–सूर्य भी; मधुमान्–सुखरूप; अस्तु–हों। नः–हमारी; गावः–गौएँ माध्वीः–मधुर दुग्ध देनेवाली; भवन्तु–होवें।

तृचका भाष्य

सरलतासे मन्त्रोंके अर्थका बोध करानेके लिये पहले 'तृच' (तीनों ऋचाओं)की 'टुप्टीका' प्रस्तुत की गयी है। अब इनका विस्तृत भाष्य दिया जाता है। 'वेद'के किसी भी मन्त्रका भाष्य करते समय उसके ऋषि, छन्द, देवता एवं पदपाठ—इन चारोंपर ध्यान रखना अनिवार्य माना गया है। इनमेंसे जो पदपाठ है, वह मन्त्रका संक्षिप्त अर्थ ही है। इन चारोंकी उपेक्षा करके जो वैदिक मन्त्रोंका अर्थ किया जाता है, वह अर्थ न होकर अनर्थ हो जाता है। अर्थात् व्याख्याता अपने मनमाने अभिप्रायको ही मन्त्रपर आरोपित करता (या लादता) है। ऐसा करना एक प्रकारसे 'वेद'के साथ विद्रोह करना है।

मन्त्रके द्रष्टा अथवा प्रस्तुतकर्ताको 'ऋषि' कहते हैं। वेद-भेदसे मन्त्रके द्रष्टा एवं प्रस्तुतकर्ता, दोनों ऋषि माने गये हैं। वेद दो प्रकारके हैं—एक तो तत्त्वात्मक वेद और दूसरा शब्दात्मक वेद। इनमें प्रकृति (प्रधान) तत्त्वात्मक वेद है एवं उसकी प्रतिकृति (प्रतिमा) शब्दात्मक वेद है।

तत्त्वात्मक वेदका द्रष्टा होनेसे ऋषिको 'वेदका द्रष्टा' कहा गया है। शब्दात्मक वेदका प्रस्तुतकर्ता होनेसे वह वेदका कर्ता भी है। तत्त्वात्मक वेद पुरुषके ज्ञान, इच्छा एवं प्रयत्नसे जन्य न होनेके कारण 'अपौरुषेय' है, शब्दात्मक वेद पुरुषके ज्ञान, इच्छा एवं प्रयत्नसे जन्य होनेके कारण 'पौरुषेय' है। परंतु मीमांसा-शास्त्रमें शब्द एवं अर्थमें परस्पर अभेद-सम्बन्ध माना गया है। अतः शब्दात्मक वेद भी तत्त्वात्मक वेदसे अभिन्न होनेके कारण अपौरुषेय मान लिया गया है। 'मधु वाताः' इस तृचके द्रष्टा एवं कर्ता 'ऋषि' गौतम हैं। इस रहस्यको न जाननेके कारण मानव वेदके अपौरुषेयत्वके विषयमें संशयात्मा बना रहता है।

छन्द

'येन छन्द्यते तत् छन्दः' यह 'छन्दः' शब्दकी निरुक्ति या व्युत्पत्ति है। इसका अर्थ है—आच्छादन। अर्थात् जो वस्तु जिससे आच्छन्न होती है, वह आच्छादक वस्तु उस आच्छाद्य वस्तुका 'छन्द' है। छन्द दो प्रकारके हैं—एक प्राणच्छन्द और दूसरा वाक्छन्द। इनमें प्राणच्छन्दके चार भेद हैं—मा छन्द, प्रमा छन्द, प्रतिमा छन्द एवं अस्त्रीवि छन्द।

वाक्छन्दके भी तीन भेद हैं—वर्णच्छन्द, गणच्छन्द एवं मात्राछन्द। इनमेंसे नियत वर्ण-समुदायवाला छन्द 'वर्णच्छन्द' है एवं गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् एवं जगती—ये सात वर्णच्छन्द हैं। वेदमें अधिकांश वर्णच्छन्द ही हैं। छन्दोभेद ही वस्तुभेदका कारण है। इस 'तृच'का गायत्री छन्द है। कोई भी अग्नि गायत्री छन्दसे आच्छादित होनेपर पार्थिव अग्निके रूपमें परिणत हो जाता है।

देवता

वेदोंमें प्राणको 'देवता' कहते हैं। देवता चार प्रकारके होते हैं—पार्थिव, आन्तरिक्ष्य, दिव्य एवं आत्मा। वेदमें जन्य पदार्थोंके छन्द, देवता एवं स्तोम—ये तीन कारण माने जाते हैं; अतः जिस वस्तुका जो कारण है, वह उसका देवता है—यह देवताका सामान्य लक्षण है। जिस मन्त्रमें जिसका वर्णन हो, वह भी उसका देवता है—यह देवताका पारिभाषिक लक्षण है। इस तृचमें मधुका वर्णन है, अतः मधु इसका देवता है। यह मधु स्थूल, सूक्ष्म एवं पर-भेदसे तीन प्रकारका होता है। इसका आगे चलकर निर्देश होगा।

संधियुक्त रूपमें पठित मन्त्रोंके पदोंका संधि-विच्छेद-पूर्वक पाठ 'पदपाठ' कहलाता है। यह मन्त्रोंका अत्यन्त संक्षिप्त अर्थ ही है। इससे संहितायुक्त रूपसे पठित पदोंका निर्णय होता है। ऋग्वेदके पदपाठकार शाकल्यमुनि हैं। पदपाठकार पदोंका यथार्थ अवच्छेद करता है अथवा नहीं, इसका निर्णय पदगत स्वरोंसे होता है। ऋषि, छन्द, देवता एवं पदपाठ—इन चारोंपर ध्यान रखते हुए हम इस तृचका भाष्य प्रस्तुत करेंगे।

मन्त्रोंके तीन-तीन अर्थ

वैदिक मन्त्रोंके अर्थ करते समय जैसे ऋषि, छन्द, देवता एवं पदपाठपर ध्यान रखना आवश्यक माना गया है, वैसे ही प्रत्येक वैदिक मन्त्रके अधिभूत, अध्यात्म एवं अधिदैवत भेदसे तीन-तीन अर्थ होते हैं, इस नियमपर भी ध्यान रखना आवश्यक है। वैदिक ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें इस प्रक्रियाके पद-पदपर दर्शन होते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें कहीं-कहीं तो एक मन्त्रके तीन, चार, पाँच, छः या सात अर्थ भी देखनेको मिलते हैं। इनमें अधिभूत-अर्थमें मन्त्रगत पद, आधिभौतिक स्थूल पदार्थका प्रतिपादन करते हैं, अध्यात्म-अर्थमें शरीरगत इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं आत्मा आदिका प्रतिपादन होता है एवं अधिदैवत-अर्थमें ब्रह्माण्डगत सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्तियोंका प्रतिपादन किया जाता है। इन अधिभूत आदिके क्रमशः स्थूल अर्थ, सूक्ष्म अर्थ एवं पर अर्थ भी नामान्तर हैं।

स्थूल अर्थका लक्षण

इन स्थूल, सूक्ष्म एवं पर अर्थोंका पृथक्-पृथक् लक्षण भी आगम-शास्त्रमें उपलब्ध है। स्थूल अर्थका लक्षण 'अहिर्बुध्न्य-संहिता'पर आधारित 'रहस्यत्रयसार' ग्रन्थमें श्रीवेदान्तदेशिकने इस प्रकार किया है—

'अत्र स्थूलोऽर्थो नाम—व्याकरणानुबद्धयास्फुटव्युत्पत्त्या प्रतीयमानोऽर्थः।'

अर्थात् मन्त्रोंका स्थूल अर्थ वह है, जो व्याकरणसे अनुबद्ध स्फुट व्युत्पत्तिसे होता हो। सारांश यह कि क्रिया-कारक-संसर्गसे प्रतीयमान अर्थ 'स्थूल अर्थ' है।

सूक्ष्म अर्थका लक्षण

सूक्ष्म अर्थका लक्षण करते हुए श्रीवेदान्तदेशिकने 'रहस्यत्रयसार' ग्रन्थमें कहा है—

'सूक्ष्मो नाम—वर्णसाम्यादीनवलम्ब्य प्रवर्तमानस्य निरुक्तस्य बलेन प्रतीयमानोऽर्थः ।' अर्थात् वर्णकी समता आदिका अवलम्बन करके निरुक्तबलसे प्रतीयमान अर्थ 'सूक्ष्म अर्थ' है। तात्पर्य यह कि प्रातिपदिक (शब्द)के स्वरूपके आलोचनसे जो अर्थ प्रतीत होता हो, वह 'सूक्ष्म अर्थ' है।

पर अर्थ

वेद-मन्त्रोंके 'पर' अर्थका लक्षण करते हुए श्रीवेदान्त-देशिक आचार्य कहते हैं —

'परो नाम—रहस्यशास्त्रप्रतिपादिताक्षरनिघण्टुप्रक्रियया प्रतीयमानोऽर्थः ।'

अर्थात् रहस्य (तन्त्र) शास्त्रमें प्रतिपादित अक्षरोंके अर्थोंसे प्रतीत होनेवाला अर्थ 'पर अर्थ' है। वर्णकोश, बीजकोश एवं मन्त्रकोश आदि ग्रन्थोंमें प्रत्येक अक्षरके अनेक अर्थोंका प्रतिपादन है।

'मधु वाताः' आदि तृचके तीन अर्थ

'मधु वाताः' तृचके भी स्थूल, सूक्ष्म एवं पर—ये तीन अर्थ हैं। इनमें 'स्थूल' अर्थका प्रतिपादन 'आश्वलायन-गृह्यसूत्र' (१ । २४ । २४)में इस प्रकार है—

"ऋत्विगाद्यर्थमाहृतं मधुपर्कं 'मधु वाताः' इति तृचेन ऋत्विगादिः प्रतिग्रहीतावेक्षेत ।'

अर्थात् होता, उद्गाता, अध्वर्यु एवं ब्रह्मा आदि ऋत्विजोंके लिये लाये गये 'मधुपर्क' को वे ग्रहण करनेवाले ऋत्विग् 'मधु वाताः' इस तृचसे देखें। इस प्रकार आश्वलायनके मतमें 'मधु वाताः' तृचमें भौतिक 'मधु'का प्रतिपादन है। तृचगत पद—इस मधुका प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं—

१—ऋतायते—सरल मार्गमें चलनेवालेके लिये; वाताः—वायुगण; मधु—मधुको; क्षरन्ति—चुवाते हैं। सिन्धवः—नदियाँ भी; मधु—मधुको; क्षरन्ति-चुवाती हैं। नः—यज्ञमार्गसे चलनेवाले हमलोगोंके लिये; ओषधीः——ओषधियाँ; माध्वीः—मधुरूपा; सन्तु—हो जायँ।

२—ऋतायते—यज्ञ-मार्गसे यात्रा करनेवालेके लिये; नक्तम्—रात्रि; मधु—मधुरूप, अर्थात् सुखरूप हों। उत—और; उषसः—दिन भी; मधूनि—सुखरूप; सन्तु— हो। पार्थिवम्—पृथिवी-सम्बन्धी; रजः—प्रत्येक रजःकण; मधुमत्—मधु-सम्पन्न हो। नः—हम प्राणियोंके; पिता—जनक; द्यौः—द्युलोक भी; मधु—मधुरूप; अस्तु—हो जाय।

३—नः—यज्ञमार्गके अनुयायी हमलोगोंके लिये; वनस्पतिः—चन्द्रमा; मधुमान्—मधुर; अस्तु—हो। सूर्यः—तीक्ष्ण-किरण सूर्य भी; मधुमान्—मधुर रूप; अस्तु—हो; नः—हमारी; गावः—गौएँ भी; माध्वीः—मधुर दूध देनेवाली सन्तु—हों। हम जिस मधुको देखते हैं, वह अव्यक्त-रूपसे सर्वत्र व्याप्त है।

इस अर्थमें 'तृच'का तात्पर्य यह है कि 'जो स्वयं मधु है, उसके लिये सम्पूर्ण विश्व ही मधुमय है। जो स्वयं विष (कुटिल) है, उसके लिये सम्पूर्ण विश्व ही विषरूपमें परिणत हो जाता है।

तृचका सूक्ष्म अर्थ

इस तृचका सूक्ष्म अर्थ श्रीसायणाचार्य महाभागने अपने ऋग्वेद-भाष्यमें इस प्रकार किया है—

१—ऋतायते—ऋतं यज्ञमात्मन इच्छते यजमानाय, अर्थात् जो अपने लिये ऋत (यज्ञ)की इच्छा करता है, उस यजमानके लिये; वाताः—वायुगण; मधु—माधुर्य-सम्पन्न यज्ञ-फलका; क्षरन्तिः—क्षरण करते हैं। सिन्धवः—नदियाँ भी; मधु—माधुर्य-सम्पन्न कर्मफलको; क्षरन्ति—झरती हैं। नः—हम यजमानोंके लिये; ओषधीः—अन्नवर्ग भी; माध्वीः—मधुर-रससे सम्पन्न, सन्तु—हों।

२—ऋतायते—यजमानके लिये; नक्तम्—रात्रियाँ; मधु—सुखरूपा; अस्तु—हो जायँ। उत—एवं; उषसः—दिन भी; मधूनि—माधुर्यसे परिपूर्ण; सन्तु—हो जायँ। नः—हम यजमानोंका; पिता—रक्षक; द्यौः—द्युलोक भी; मधु—मधुर कर्मफलका दाता; अस्तु—हो। पार्थिवम्—पृथिवी-सम्बन्धी; रजः—रजःकण; मधुमत्—मधुरिमासे भरपूर; अस्तु—हो जाय।

३—नः—हम यजमानोंके लिये; वनस्पतिः—चन्द्रमा; मधुमान्—मधुर कर्मफल प्रदान करे। सूर्यः—सूर्य भी; मधुमान्—मधुरतापूर्ण कर्मफलका प्रदाता; अस्तु—हो। नः—हम यजमानोंके लिये; गावः—गौएँ भी; माध्वीः—मधुमती; भवन्तु—हो जायँ।

इस सूक्ष्म अर्थमें मन्त्रका फलितार्थ यह है कि यज्ञसे प्रकृतिके अणु-परमाणु, चन्द्र-सूर्य, पृथिवीलोक, आकाश, वृक्ष, अन्न, ओषधियाँ, नदियाँ, समुद्र, रात-दिन एवं गो-गण आदि सब पदार्थ यजमानके लिये सदा कर्मफलरूप

सुखकी वृष्टि करते हैं। दूसरे शब्दोंमें प्रकृति यजमानके लिये सदा कामधेनु हो जाती है। यज्ञके अभावमें प्रकृति क्षुब्ध होकर रुक्ष हो जाती है, सदा दुःखोंकी वृष्टि करने लगती है। अतः विश्व-शान्ति, समृद्धि, सौहार्द, सुख एवं अभ्युदयके लिये व्यष्टि एवं समष्टिके द्वारा—'यज्ञो वै श्रेष्ठतरं कर्म'–यज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ कर्म है'—इस उक्तिके अनुसार यज्ञ-कर्मका सम्पादन अनिवार्य है।

तृचका 'पर' अर्थ

'तृच'के स्थूल एवं सूक्ष्म अर्थोंके प्रतिपादनकी पद्धतिका निरूपण किया गया। अब 'पर' अर्थका प्रतिपादन किया जाता है। यह 'पर'अर्थ तीन प्रकारका है—१-अधिदैवत अर्थ, २-अक्षरोंसे लभ्य अर्थ एवं ३-कार्यद्वारा उन्नीत अर्थ। इनमेंसे अधिदैवत अर्थमें 'तृच'-कथित 'मधु'का अर्थ अमृत-रस है। 'शतपथब्राह्मण'में उपलब्ध 'तृतीयस्यां वै दिवि सोम आसीत्'—इस विज्ञानके आधारसे इस अमृत-रसका आधार चतुर्थ आपोलोक है, जो सूर्यके ऊपर है। जब वह अमृत-रस सूर्यलोकमें आता है, तब 'मधु' रूपमें परिणत हो जाता है। वही अन्तरिक्षमें 'घृत' एवं पृथिवीलोकमें 'दधि' रूपमें परिणत होता है। इस विषयमें 'वेद'का विज्ञान है कि 'दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्। घृतमन्तरिक्षस्य। मध्वमुष्य।*—दधि ही इस पृथिवीलोकका रूप है, घृत अन्तरिक्षलोकका और मधु इस आदित्य-लोकका रूप है।' सूर्य इस मधुसे मधुरूप है। सूर्य-रश्मियाँ इस मधुसे माध्वी हैं। इस मधु-तत्त्वसे चन्द्ररश्मियाँ भी माध्वी बनी हुई हैं। 'मधु अप्सरसः'के आधारसे इस मधु-तत्त्वसे ओषधियाँ मधुमती बनी हुई हैं। वेदमें ओषधियोंको भी 'अप्सरा' कहा गया है। इसी मधु-तत्त्वसे पिता द्युलोक मधुमान् है। वसन्त ऋतुके प्रारम्भमें इस मधु अग्निका पार्थिव रजःकणोंमें आधान होता है, अतः 'मधुमत् पार्थिवꣳ रजः' है। इस मधु अग्निके विकासके कारण ही वसन्त ऋतुके दो मास चैत्र-वैशाख 'मधु' और 'माधव' नामसे अभिहित होते हैं। सौर-शक्तियाँ चान्द्रनाड़ियों (नक्षत्रों) द्वारा पृथिवीमें प्रविष्ट होती हैं।† इस दिव्य मधुका पदार्थोंमें आधानकाल वसन्तकाल है। दिव्य अग्निका आधानकाल ही आर्योंके अग्न्याधानका समय है। इससे प्रमाणित होता है कि आर्योंके आचारोंका सम्बन्ध प्रकृतिसे है, न कि भावुक मनुष्योंकी कल्पनाओंसे। प्रकृतिमें व्याप्त इस सौर मधु—अग्निका प्रतिपादन 'मधु वाताः' इत्यादि तृचके 'पर' अर्थमें घट रहा है।

१—ऋतायते–प्राकृत नियमोंके अनुगामी पदार्थमात्रके लिये; वाताः–वायुगण; मधु–विश्व-जीवन सौर 'मधु' अग्निका; क्षरन्ति–क्षरण (वर्षण) करते हैं। दूसरे शब्दोंमें विश्वका जीवनभूत यह सौर मधु वायुगणोंमें भी व्याप्त है और उनके द्वारा सब पदार्थोंको प्राप्त होता है। सिन्धवः–नदियाँ भी; मधु–उस मधु-अग्निका; क्षरन्ति–क्षरण (वहन) करती हैं। नः–हमलोगोंका; ओषधीः–अन्नवर्ग भी; माध्वीः–उस मधु-अग्निसे सम्पन्न; सन्तु–हो।

२—नक्तम्–रात्रि; मधु–उस मधुसे मधुमती हो। उत–और; उषसः–उषाएँ भी; माध्वीः–उस मधु-अग्निसे सम्पन्न हो। पार्थिवम्–पृथिवी-सम्बन्धी; रजः–रजःकण भी; मधुमत्–उस दिव्य मधु-अग्निसे सम्पन्न हों। नः–हम प्राणियोंके; पिता–उत्पादक; द्यौः–द्युलोक भी; मधुमान्–उस दिव्य सौर मधुसे परिपूर्ण हो।

३—वनस्पतिः–चन्द्रमा अथवा वृक्ष; मधुमान्–उस दिव्य मधुसे मधुमय हो। सूर्यः–सूर्यमण्डल भी; मधुमान्–उस जीवनरूप मधुसे परिपूर्ण; अस्तु–हो। नः–हमलोगोंके लिये; गावः–सूर्य-किरणें भी; माध्वीः–उस दिव्य मधु-अग्निसे सम्पन्न; भवन्तु–हों। इस मधु-अग्निकी व्याप्तिका वर्णन यह ऋङ्मन्त्र भी कर रहा है—

मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमान्नो भवत्वन्तरिक्षम्।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नोऽस्तु अरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम ॥
(ऋक्० ४। ५७। ३)

अर्थात् ओषधियाँ, दिव्यलोक, जलरूप तीर्थ, अन्तरिक्ष तथा क्षेत्रपति (पृथ्वी आदि पदार्थ) मधु-अग्निसे परिपूर्ण हों। हम उसकी प्राप्तिमें बाधा न डालते हुए उसकी उपासना करें।

उपनिषदोंमें प्रसिद्ध 'मधु'-विद्यामें इस सौर 'मधु'-अग्निका ही प्रतिपादन है। वेदान्त-सूत्रोंमें भगवान् व्यासने 'मध्वादिष्वसम्भवात् अनधिकारं जैमिनिः' आदि सूत्रोंमें इस 'मधु'-अग्निका ही विवेचन किया है। इसका प्रत्यक्ष दर्शन वसन्तकालमें नवपल्लवों एवं आम्र आदि फलोंमें

---

* मधु, घृत, दधि—ये अमृतके तीन रूपान्तर हैं। दुग्ध एवं शर्करा—ये दो भी अमृतके परिणाम हैं। आर्योंकी पूजामें इन पाँचोंको एकत्र करके 'पञ्चामृत' बनाया जाता है।

† पृथ्वीको सौर मधु अग्निकी प्राप्ति भरणी नक्षत्रद्वारा होती है। जैसा कि कहा गया है—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीन् आदधीत। —वसन्तमें ब्राह्मण अग्निका आधान करे।'

किया जा सकता है। प्रकृतिमें व्याप्त विश्वके जीवन इस दिव्य मधुके प्रथम द्रष्टा दध्यङ् आथर्वण 'ऋषि' हैं। उन्होंने इसका ब्राह्मण (विज्ञान) अश्विनीकुमारोंको बताया था। विश्वके जीवन इस दिव्य 'मधु'-अग्निको गौतम 'ऋषि'-ने भी देखा था; उन्होंने अपने इस तत्त्वात्मक वेदके दर्शनको 'मधु वाता ऋतायते' इस शब्दात्मक वेद (तृच) में किया है। ऋषिने उक्त 'तृच'में उन अक्षरों एवं उस छन्दका संनिवेश किया है, जिनके उच्चारणसे उस 'मधु'-अग्निका अध्यात्ममें भी प्राकट्य हो जाता है। स्तुतिकर्तामें प्रकट इस अग्निका इसके परिसरमें विद्यमान सब जड-चेतनोंसे भी सम्बन्ध हो जाता है।

'पर' अर्थका दूसरा प्रकार

'मधु वाताः' इत्यादि 'तृच'के अधिदैवत पक्षमें एक प्रकारके 'पर' अर्थका प्रतिपादन किया गया है। अब दूसरे प्रकारके 'पर' अर्थका निरूपण किया जाता है। यह मन्त्रगत प्रत्येक अक्षरका अर्थ है। वर्णभैरव, वर्णमातृका, बीजकोश एवं मन्त्रकोश आदिमें एक-एक अक्षरके अनेक अर्थोंका प्रतिपादन है।

'मधु वाताः'-तृचमें प्रयुक्त कतिपय अक्षरोंके अर्थोंका निर्देश किया जाता है। 'तृच'का प्रारम्भ 'मधु'-शब्दसे होता है। 'मधु'-शब्दमें मकार, अकार, धकार एवं उकार—ये चार अक्षर हैं। इनमें 'मकार'का अर्थ मर्दन, काल एवं प्रधान आदि है, मकारोत्तर 'अकार'का अर्थ अप्रमेय, व्यापक, प्रथम आदि है, 'धकार'का अर्थ शार्ङ्गधर, धारणकर्ता, माधव आदि है, धकारोत्तर उकारके उद्दाम, उदय, भुवन आदि अर्थ हैं। इन अर्थोंके मेलसे 'मधु' शब्दका यह अर्थ होता है कि 'मधु'-नामक सौर अग्नि विश्वगत शिशिरभाव (जडभाव)का मर्दक (नाशक) है। यह व्यापक है, विश्वका धारक है और उदयका कारण है। अर्थात् इसीसे सब पदार्थ उदित (अभिव्यक्त) होते हैं। इसी प्रकार 'वाताः'पदमें विद्यमान वकार, आकार, तकार, आकार एवं विसर्ग—इन पाँच अक्षरोंके अर्थ मिलाने-पर 'वाताः' पदका अर्थ यों प्रकट होता है—'वायु भी वह अमृतरूप—सृष्टि-कारक 'मधु'-नामक अग्नि है।' इसी तरह 'क्षरन्ति' आदि पदोंके भी 'पर' अर्थोंको जानना चाहिये।

मधु-शब्दके निर्वचन

वर्णों (अक्षरों)के अर्थोंसे उत्पन्न 'मधु' शब्दके 'पर' अर्थका प्रतिपादन 'मधु' शब्दके निर्वचनोंसे भी हो रहा है। 'निरुक्त' आदि ग्रन्थोंमें 'मधु'-शब्दके अनेक निर्वचन उपलब्ध हैं। भट्ट भास्करमिश्रने 'मधु'शब्दकी निष्पत्ति 'मन ज्ञाने' धातुसे मानी है। "मननीयं मधु—जो मनन (ज्ञान) से युक्त हो, वह 'मधु' है।" 'मधु'-अग्नि चेतनायुक्त है। विश्वमें इसके उदित होते ही विश्वके पदार्थोंमें चेतनाका संचार हो जाता है। मधुमास (चैत्र)-में इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। वैयाकरण भी 'मन ज्ञाने' धातुसे ही 'मधु'-शब्दकी व्युत्पत्ति मानते हैं। "मन्यते इति मधु—जो ज्ञानमय है वह 'मधु' है।" देवराज यज्वाने 'मध तृप्तौ' धातुसे 'मधु' शब्दकी सिद्धि मानी है। 'मधु'-अग्निमें तृप्ति है, अतः वह पूर्ण है। पूर्ण होनेसे ही वह पल्लव, पुष्प एवं फल आदिकी सृष्टि करता है। 'निरुक्त'में भगवान् यास्कने 'मधु' शब्दका 'मधु धमतेर्विपरीतस्य'—यह निर्वचन किया है। 'धमति' का यहाँ 'गति' अर्थ है। यास्कके मतमें 'मधु'-अग्नि तरलताका सम्पादक है, अर्थात् घनताका नाशक है। इसकी गतिशीलताके कारण ही शिशिरमें अवरुद्ध प्राणोंमें गति आ जाती है। 'मन ज्ञाने' धातुसे उत्पन्न 'मधु'-शब्दका विपरिणाम आंग्ल प्राकृतमें 'होनी' हो गया है।

'मधु वाताः' तृचमें विद्यमान 'मधु' एवं 'वाताः' शब्दोंके वर्णोंके अक्षरोंसे उत्पन्न अर्थके अवलोकनसे वेदोंके अर्थ-गाम्भीर्य एवं पद-संनिवेश-गाम्भीर्यकी प्रतीति होती है। अतः 'अग्निमीळे पुरोहितम्'के स्थानपर 'वह्निमीळे पुरोहितम्' नहीं पढ़ा जा सकता; क्योंकि अकार, गकार, नकार एवं इकार, इनके समुदायसे उत्पन्न अर्थ भिन्न है। यह अर्थ वकार, हकार, नकार एवं इकार, इस वर्ण-समुदायसे नहीं प्राप्त हो सकता।

तीसरे प्रकारका 'पर' अर्थ

'शतपथब्राह्मण'में एक तीसरे प्रकारके 'पर'अर्थका भी प्रतिपादन देखा जाता है। भगवान् याज्ञवल्क्यने 'विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम्। विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा।' इस मन्त्रमें उसे प्रस्तुत किया है। इस मन्त्रकी व्याख्यामें याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'विश्वो देवस्येति तदस्या वैश्वदेवम्; नेतुरिति तस्सावित्रम्; मर्त इति तन्मैत्रम्; विश्वो द्युम्नमिति तद्बार्हस्पत्यम्। द्युम्नं हि बृहस्पतिः। पुष्यसे इति तत्पौष्णं रूपम्।'

प्रत्येक मन्त्र देवतामय अथवा देवतारूप है। देवता-शब्दका पर्याय लौकिक भाषामें 'शक्ति' एवं वैदिक भाषामें

'प्राण' है। मन्त्रोंमें कई मन्त्र एक ही देवता (शक्ति)-वाले हैं। अनेक मन्त्र अनेक शक्तिरूप है। 'विश्वो देवस्य नेतुः'—यह मन्त्र अनेक देवता (शक्ति) वाला मन्त्र है। इसके स्थूल अर्थमें अनेक देवताओंका प्रतिपादन नहीं है, किंतु कार्यसे उन्नीत या अनुमित अर्थ (पर अर्थ)में अनेक देवताओंका इसमें प्रतिपादन है। इस मन्त्रका 'विश्वो देवस्य'—यह खण्ड 'विश्वेदेवमय' है। नेतुः—यह खण्ड सावित्र है। अर्थात् इसके देवता सविता हैं। नेतापदसे सविताकी प्रतीति 'पर अर्थ' है। यहाँपर कार्यसे कारणका अनुमान है। 'मर्तः' पद मित्रदेवतामय है। 'विश्वो द्युम्नम्'—यह खण्ड बृहस्पतिका बोधक है। 'द्युम्न' (·एक प्रकारका तेज) बृहस्पतिसे उत्पन्न होता है। अतः जहाँ 'द्युम्न' है, वहाँ 'बृहस्पति' है। यह भी कार्यसे कारणका अनुमानरूप पर अर्थ है। विश्वके पदार्थोंमें जहाँ भी 'द्युम्न' होगा, वहाँ बृहस्पतिः हैं।' 'पुष्यसे' खण्ड पूषा-देवताका प्रतिपादक है। कारण कि इसमें 'पुष्टि'का प्रतिपादन है। पुष्टि पूषाका कार्य है। अतः जहाँ पुष्टि, वहाँ पूषा—इस न्यायसे पूषाकी स्थिति वहाँ है। यह भी 'पर अर्थ' ही है।

इस प्रकार यहाँ 'मधु वाताः' तृचके स्थूल, सूक्ष्म एवं 'पर' अर्थ रूप तीन अर्थोंका प्रतिपादन सप्रमाण किया गया है। इससे वैदिक मन्त्रोंकी अलौकिकता एवं अर्थ-गाम्भीर्यके दर्शन होते हैं। मानवके लिये वेदमें वर्णित प्रकृति-रहस्योंके ज्ञानमें रुचि रखना परम आवश्यक है। वेदके बिना 'मधु'-के स्वरूपका रहस्य अन्यत्र कहाँ उपलब्ध हो सकता है। अतः 'माध्वीर्गावो भवन्तु नः'। हमारी वेदवाणी (वेदज्ञान) में रुचि हो, यह प्रार्थना है। वे मानव विश्वद्रोही हैं, जिन्होंने अपनी भावुकता (मूर्खता)के कारण मानव-वाणियोंको ईश्वरवाणी (वेद)-के समकक्ष घोषित किया हो। प्रकृति-रहस्यके ज्ञानके लिये मानवको 'कुमारिलभट्ट'द्वारा प्रतिपादित 'वेदार्थज्ञानरत्न'में कथित 'तृष्णातीव विजृम्भते' इस मार्गका अनुसरण करना चाहिये।

ज्योति दयामयि !

[Cardinal Newman के प्रसिद्ध भजन "Lead kindly Light!" का भाषानुवाद]

व्याप्त चतुर्दिक् अन्धकारमें, ज्योति दयामयि ! हाथ पकड़कर
मुझे बढ़ाती आगे ले चल
निविड़ अँधेरी अमा-निशा है, और दूर है, दूर बहुत घर,
मुझको तू ले चल रे ! ले चल ॥
चरणोंको रह दिये सहारा, नहीं चाहता मुझे दिखा दे
दृश्य दूरका, जहाँ पहुँचना; बस, केवल पग एक टिका दे।
ऐसा कभी न पहले मैं था, कभी न मैंने तुझे पुकारा,
कहा कि 'मुझको आगे ले चल।'
मुझको रुचता स्वयं खोजना, पाना निज पथ; पर अब हारा;
मुझको तू ले चल रे ! ले चल ॥
रंग भरे दिन थे प्रिय लगते यद्यपि भय रहता था भीतर,
दर्प-अधिप था संकल्पोंका; ध्यान न देना गत वर्षोंपर
अबतक मेरे लिये वरद थी शक्ति तुम्हारी, अब भी निश्चय
मुझको ले जायेगी आगे,
दल-दल, जंगल, गिरिवर, निर्झर, सबके ऊपर—जबतक न विलय
हो रजनीका, वह उठ भागे;
और उषाके साथ पड़ेगा उन सुर-सदृश मुखोंसे स्मित झर
प्रीति-पात्र जो मम चिर-दिनके जिनको खो बैठा इस क्षणपर ॥

—माधवशरण, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०

परिवार-नियोजन और भारतीय संस्कृति

(संत विनोबा भावे)

परिवार-नियोजन—'फैमिली प्लैनिंग'में मैं अपने देश-का कल्याण नहीं देखता; बल्कि इसमें आध्यात्मिक और नैतिक मूल्योंकी हार है, ऐसा मैं मानता हूँ। इसके कई पहलू हैं—आध्यात्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षणिक। यह चीज ही ऐसी है कि बिल्कुल जीवनके केन्द्रमें खड़ी है। इसलिये यों ही सहज भाव-से कह देना कि 'हाँ भाई, जन-संख्या बढ़ रही है तो करो नियमन,' यह मुझे जँचता नहीं।

पृथ्वीको पापका भार, संख्याका नहीं

मैंने एक सूत्र बनाया है—'पृथ्वीको पापका भार है, संख्याका नहीं। संतान पापसे बढ़ सकती है, पुण्यसे भी बढ़ सकती है। संतान पापसे घट सकती है, पुण्यसे भी घट सकती है। पुण्य-मार्गसे संतान बढ़ेगी तो पृथ्वीको बोझ नहीं होगा। पुण्य-मार्गसे संतान घटेगी तो नुकसान नहीं होगा। पाप-मार्गसे संतान बढ़ेगी तो पृथ्वीको भार होगा और पाप-मार्गसे संतान घटेगी तो नुकसान होगा। यह मेरा अपना एक विचार है। इसलिये संतति-निरोधके जो कृत्रिम उपाय चलते हैं, उनको मैं मातृत्वकी विडम्बना कहता हूँ।

युद्धसे भी भयानक

आज मानव-समाजमें सेक्सका उधम मचाया जा रहा है। मुझे इसमें युद्धसे भी ज्यादा भय माल्म होता है। अहिंसाको हिंसाका जितना भय है, उससे ज्यादा काम-वासनाका है। हर जगह विज्ञानकी मदद ली जा रही है, लेकिन सेक्समें नहीं। आज समाजकी स्थिति ऐसी है कि सेक्समें भी साइंटिफिक अट्टियूड (वैज्ञानिक वृत्ति) की आवश्यकता पैदा हुई है।

वैज्ञानिक दृष्टि और संयम

परिवार-नियोजनका मतलब है—आत्मसंयम, अपनेपर काबू रखना। यह चीज नामुमकिन नहीं। विज्ञानके जमानेमें पहलेसे ज्यादा आसान होनी चाहिये। उस विषयका स्वरूप क्या है, परिवारका उद्देश्य क्या है, ब्रह्मचर्यकी साधना क्या होती है, उसमें कौन-सी शक्ति भरी है, इन बातोंका विज्ञानके जमानेमें प्रजाको अधिक स्वच्छ ज्ञान होगा। जितना पहले कभी नहीं था, उतना होगा। हममें एक ऐसी शक्ति है कि उसे ऊपर उठाया जा सकता है। जैसे दीपक या लालटेनकी प्रभा होती है; उसके लिये नीचेसे तेल सप्लाई होता है, तभी उसकी प्रभा, बत्ती, ज्योति अच्छी तरह चमकती है। मनुष्यके लिये 'ब्रह्मचर्य' तेल है और प्रज्ञाकी प्रभा, उसकी बुद्धिमत्ता उसका प्रकाश है। ब्रह्मचर्यके तेलकी सप्लाई उसे सतत मिलती रहे तो बुद्धिमत्ता तेजस्वी होती है। वह न रही तो बुद्धि ही कमजोर पड़ जाती है, बुद्धिकी प्रतिभा कम होती है।

देश तेजोहीन होगा

कृत्रिम उपायोंके अवलम्बनसे सिर्फ संतान ही नहीं रुकेगी, बुद्धिमत्ता भी रुकेगी। यह जो क्रिएटिव एनर्जी (सर्जक शक्ति) है, जिसे हम 'वीर्य' कहते हैं, उसीमेंसे वाल्मीकि-जैसे महाकवि पैदा हुए, महावीर हनुमान उसीमेंसे निकले। प्रतिभावान् पुरुष और तत्त्वज्ञानी उसीमेंसे निकले। उस निर्माण-शक्तिका मनुष्य दुरुपयोग करता है; अर्थात् संख्या-नियमन करके संतानको रोक लिया और उस शक्तिका दूसरी तरफ जो उपयोग हो सकता था, उसे विषय-उपभोगमें लगा दिया। विषय-वासनाका जो अङ्कुश रहता था, वह नहीं रहा। पति-पत्नी संतान उत्पन्न न हो, ऐसी व्यवस्था करके विषय-वासनामें व्यस्त रहेंगे तो उनके दिमागका कोई संतुलन नहीं रहेगा। ऐसी हालतमें देश तेजोहीन बनेगा। संतान कम होगी तो लाभ होगा, मानकर ये लोग उसे उत्तेजन देंगे। लेकिन सिर्फ संतान ही कम नहीं होगी, ज्ञान-तन्तु क्षीण होंगे, प्रभा कम होगी, प्रज्ञा कम पड़ेगी, तेजस्विता कम होगी।

पुरुषार्थ बढ़ायें

दुनियाका अनुभव है कि जब जीवनमें पुरुषार्थ

बढ़ता है, तब विषय-वासना कम होती है। सबको अच्छी तरह पुरुषार्थ करनेका मौका मिलेगा तो स्वभावतः विषय-वासनापर नियन्त्रण हो जायगा। साथ ही हिंदुस्तानका पुरुषार्थ जितना बढ़ेगा, उतना ही पोषण-का इन्तजाम भी बढ़ेगा। जहाँ पोषण अच्छा नहीं मिलता, वहाँ भोग-वासना बढ़ती है। जानवरोंमें भी यह देखा गया है। शेरके बच्चे कम होते हैं, बकरीके ज्यादा। मजबूत जानवरोंमें विषय-वासना कम होती है और कमजोरमें ज्यादा। फिर कमजोरोंकी जो संतान पैदा होती है, वह भी निर्वीर्य या निकम्मी होती है। इसीलिये मैं कहता हूँ कि यह विषय सामाजिक और आध्यात्मिक है; उससे खिलवाड़ न किया जाय। ऐसा वातावरण निर्माण किया जाय, जो संयमके अनुकूल हो। समाजमें पुरुषार्थ बढ़ायें, साहित्य सुधारें और गंदा साहित्य, गंदे सिनेमा रोकें।

चार आश्रमोंकी योजना

यह सब सोचते हुए ध्यानमें आयेगा कि हमारे पूर्वजोंने जो योजना बनायी थी, वह ठीक थी—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम। अगर ऐसी मर्यादा हम बनाते हैं तो उससे हमें लाभ होगा। गृहस्थाश्रमका पैमाना २५ सालकी उम्रसे ४५ तक २० सालका हो तो संतानका भी थोड़ा बहुत नियमन होना चाहिये। वह होगा तो लाभ ही लाभ मिलेगा और आध्यात्मिक शक्तियाँ भी मिलेंगी।

हमारे सामने एक आदर्श होना चाहिये कि इतने वर्षोंके बाद हम गृहस्थाश्रमसे निवृत्त होंगे। जैसे विधिपूर्वक गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं, वैसे ही विधिपूर्वक गृहस्थाश्रमका विसर्जन होना चाहिये। इससे हम विषय-वासनासे मुक्त होते हैं।

'विषय-वासनासे मुक्ति सहज ही मिलेगी—ऐसे भ्रममें जो रहता है, वह स्वयं अपनी कब्र खोदता है'—ऐसा महाराज ययातिने कहा है। वे बूढ़े हो गये थे, लेकिन उन्हें वासना-तृप्ति नहीं हुई थी, इसलिये उन्होंने अपने बच्चोंसे जवानी माँगी। बच्चोंने दे दी। जवान होकर दुबारा भोग भोगा, लेकिन फिर भी उनकी तृप्ति नहीं हुई। फिर महाराज ययातिने अपना अनुभव श्रीमद्भागवतके एक श्लोकमें बता दिया—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
(९। १९। १४)

'कामके उपभोगसे काम-शक्ति कम नहीं होती। घीसे जैसे अग्नि बढ़ती है, वैसे ही वह बढ़ती चली जाती है।' चाहे शक्ति घट जाय, इच्छा बढ़ती ही रहती है। इसलिये उसको तोड़ना ही होता है। स्वायम्भुव मनुकी कथा तुलसीदासजीने रामायणमें दी है कि **'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन'**—बुढ़ापा आया, लेकिन विषय-वासना नहीं मिटी। मनुको बड़ा दुःख हुआ कि **'जन्म गयउ हरि भगति बिनु।'** तब उन्होंने क्या किया? **'बरबस राज सुतहि तब दीन्हा।'**—जबरदस्ती राज्य अपने पुत्रको सौंप दिया' और **'नारि समेत गवन बन कीन्हा।'**—पत्नीके साथ वनमें प्रवेश किया।' ये तुलसी-रामायणके शब्द हैं। इस तरह अपने ऊपर, अपनी इन्द्रियोंपर, मनपर जबरदस्ती करनेका अधिकार पुरुषको होता है। उसका उपयोग उन्होंने किया और वनमें चले गये। सारांश यह कि विषय-वासना ऐसे ही टूटेगी। उसमेंसे हम छूटेंगे, ऐसा मानना बिलकुल गलत है।

विषय-वासनाकी एक मर्यादा होनी चाहिये। जब लोकमत होता है, तभी यह सम्भव होती है। और जिन्होंने यह वानप्रस्थाश्रमकी कल्पना निकाली, उन्होंने इस विषयमें लोकमत बनाया था। लेकिन वह लोकमत आज टूट गया, वानप्रस्थाश्रम खतम हो गया। गृहस्थाश्रम-की प्रतिष्ठा गयी। ऐसी हालतमें जो समाज रहता है, वह कैसे आगे बढेगा? यह शोचनीय बात है। इसलिये वानप्रस्थकी बात करनी चाहिये।

जिस दिन चार आश्रमकी स्थापनाकी आशा मैं छोड़ूँगा, उस दिन हिंदू होनेका दावा भी छोड़ दूँगा। और कहना चाहिये कि यह सिर्फ हिंदुओंकी वस्तु नहीं है। मुहम्मदने भी लिखा है कि '४० सालके बाद मनुष्यका ध्यान भगवान्की ओर जाना चाहिये' और जाता है। उन्होंने ४०की मर्यादा मानी, जिसमें मनुष्यको विषय-वासनासे अलग होना चाहिये।

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

प्रेम मनकी चीज है । बोलने और न बोलनेसे प्रेम बढ़ता अथवा घटता हो, ऐसी बात नहीं है । आप अपने बाहरी व्यवहारमें ऐसी चेष्टा करें, जिससे घरवालों अथवा अन्य लोगोंको कोई उद्वेग उत्पन्न न हो और मनमें परस्पर निस्स्वार्थ और पवित्र प्रेम रखें । जिस प्रेममें मिलावटकी आवश्यकता है, वह तो प्रेम ही नहीं है ।

❁ ❁ ❁

सत्सङ्गके पवित्र वातावरणमें रहकर ऊँचा-से-ऊँचा लाभ उठावें—यही कहना है । मनसे निरन्तर भगवान्‌का स्मरण, जीभसे आवश्यकताभर बात करनेके बाद निरन्तर नाम-जप तथा शरीरसे भगवद्रूप संतोंकी—समस्त प्राणियोंकी सेवा—यही सत्सङ्गका सच्चा लाभ है । इसमें कसर नहीं आने पावे ।

❁ ❁ ❁

भगवान्‌के भक्तको किसी भी परिस्थितिमें निराश नहीं होना चाहिये । आप विश्वास रखें, मङ्गलमय प्रभुका प्रत्येक विधान मङ्गलसे भरा होता है—आप यह विश्वास अपने मनमें दृढ़ करें तथा अत्यन्त साहसपूर्वक अपने चित्तको शान्त करनेकी चेष्टा करें । उद्विग्नतासे कोई लाभ नहीं होता ।

❁ ❁ ❁

भगवान् श्रीकृष्ण जिस प्रकार रखना चाहते हैं, उसीमें अतिशय प्रसन्न रहना चाहिये । आपकी कोई परिस्थिति बहुत प्रतिकूल दीखनेपर भी उसीमें आपका मङ्गल निहित है । प्रतिकूल-से-प्रतिकूल वातावरणको भगवान्‌का प्रसाद समझकर अत्यन्त प्रसन्न चित्तसे उसमें रहना चाहिये ।

❁ ❁ ❁

आप व्रजमें निवास कर रहे हैं, यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है । व्रजमें रहते हुए भी आप बुखारके कारण भगवान्‌के रासके दर्शनसे वञ्चित हो गये, इससे मनमें व्यथा होनी स्वाभाविक है; पर यदि आप इस बुखारके तापको भगवद्विरहके तापमें बदल सकें तो रासका फिर ऐसा दर्शन हो जाय कि उसके बाद आपकी आँखें कुछ दूसरी वस्तुको देखेंगी ही नहीं । आप बड़े भाग्यवान् हैं कि बुखारकी अवस्थामें भी आपका मन श्रीरास-दर्शनके लिये तड़पता है । श्रीराधारानी ऐसी कृपा करें कि दर्शन भले मत हो, पर दर्शनके लिये तड़पन उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाय । रसिक प्रेमी भक्त मिलनसे भी अधिक वियोगको महत्त्व देते हैं । यह तो हुई पारमार्थिक दृष्टिकी बात । व्यावहारिक दृष्टिकी बात यह है कि चिन्ता तो बिल्कुल नहीं करनी चाहिये, पर यथायोग्य औषध एवं पथ्यका सेवन करना चाहिये । व्रजको छोड़कर अन्यत्र जानेकी सलाह तो मैं कदापि नहीं दे सकता ।

❁ ❁ ❁

अनन्त सौभाग्यसे श्रीव्रजधाममें आप निवास कर रहे हैं । शरीर तो श्रीधाममें है ही, अब मनमें श्रीधाम बस जाय, इतनी भिक्षा आप राधारानीसे और माँगिये । अनन्त असीम अनुरागकी धारा निरन्तर श्रीधाममें प्रवाहित हो रही है । मनको उस धाराके सामने कर दें, फिर अपने-आप अनुरागका एक स्रोत मनमें प्रविष्ट हो जायगा तथा मन अनुरागमय होकर श्रीधामसे एकमेव हो जायगा । फिर देखेंगे—

आज गोपाल रास-रस खेलत
 पुलिन कल्पतरु तीर री, सजनी ।
सरद बिमल नभ चंद बिराजत,
 रोचक त्रिबिध समीर री, सजनी ॥
चंपक बकुल मालती मुकुलित,
 मत्त मुदित पिक-कीर री, सजनी ।
लेत सुधंग राग-रागिनि कौ,
 व्रज जुवतिन की भीर री, सजनी ॥

मघवा मुदित निसान बजायौ,
व्रत छाँड्यौ मुनि धीर री, सजनी।
(जै श्री) हित हरिबंस मगन मन स्यामा,
हरत मदन धन पीर री, सजनी॥

❀ ❀ ❀

अधिक-से-अधिक नाम जपिये और श्रीकृष्णके भरोसे बैठे रहिये, इससे बढ़कर उत्तम सलाह मेरे पास है नहीं। और क्या बताऊँ।

बस, निरन्तर प्रिया-प्रियतमकी स्मृति बनी रहे—यही करना है।

समर्थ रामदास

(लेखक—श्रीरामलालजी)

संत समर्थ रामदासका भागवती शक्तिके मध्यकालीन व्याख्याकारोंमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने महाराष्ट्रमें आध्यात्मिकताका—निर्गुण ब्रह्म और सगुण लीलामय ब्रह्मकी उपासनाका राष्ट्रीकरण किया। उन्होंने स्वराज्यका—संतमत-सम्मत शासन-परम्पराका शुद्ध तथा परम निर्मल स्वरूप समझाकर प्राणीमात्रको परमात्माकी ओर उन्मुख किया। उन्होंने कहा कि सबको जगदीशका भजन करना चाहिये। जब उपासना प्रकट हुई; तभी लोगोंकी समझमें यह बात आने लगी; ईश्वरकी उपासना करनी चाहिये। सबके लिये उपासना ही बहुत बड़ा आसरा है। उसके बिना सब निराश्रय हैं। फिर चाहे कितने ही उपाय क्यों न किये जायँ, कार्य-सिद्धि नहीं हो सकती। जिसे समर्थका सहारा नहीं होता, उसे जो चाहे वही कूट-मार सकता है। उठते-बैठते ईश्वरका ही भजन करना चाहिये। भजन-साधन और अभ्याससे ही परलोक मिलता है। दासका कथन है कि इस बातका मनमें विश्वास रखना चाहिये—

समजणें जें विवेकाचें। तेंहि आत्म्याविण कैंचें।
कोणीयेकें जगदीशाचें। भजन करावें॥
उपासना प्रकट जाली। तरी हे विचारणा कळली।
याकारणें पाहिजे केली। विचारणा देवाची॥
उपासनेचा मोठा आश्रयो। उपासनेविण निराश्रयो।
उदंड केलें तरी तो जयो। प्राप्त नाहीं॥
समर्थाची नाहीं पाठी। तयास भलताच कुटी।
याकरणें उठाउठी। भजन करावें॥
भजन साधन अभ्यास। येणें पाविजे परलोकास।
दास म्हणे हा विश्वास। धरिला पाहिजे॥

(दासबोध १६। १०। २७–३१)

महाराष्ट्रमें श्रीहनुमान्‌के अवतारके रूपमें घर-घरमें समर्थ रामदासकी पूजा होती है। वे दशरथनन्दन राघव राजा रामके परम भक्त थे। उन्होंने मौलिक ढंगसे रामका चिन्तन किया। उनका कथन है—

सकळ जनामधें नाम। रामनाम उत्तमोत्तम।
श्रम जाउनी विश्राम। चन्द्रमौळी पावला॥

(दासबोध १६। ८। ३)

आशय यह है कि 'रामका नाम सब नामोंमें श्रेष्ठ है। उसीसे चन्द्रमौलि शिवका कष्ट दूर हुआ और उन्हें विश्राम मिला।' 'मनाचे श्लोक'में संतसमर्थकी स्वीकृति है कि जिसके मुखमें राम रहते हैं, उसे उन्हींमें विश्राम मिलता है, वह अखण्ड आनन्दस्वरूपका भागी होता है। राम-नामके सिवा सब कुछ संशयजनक और थकावट देनेवाला है। नाम दुःखहारी परमात्माका धाम है—

मुखीं राम विश्राम तेथेंचि आहे। सदानंद आनंद सेऊनि राहे।
तयावीण तो शीण संदेहकारी। निजधाम हें नाम शोकापहारी॥

(मनाचे श्लोक ८६)

जिस समय देवदुर्लभ परम पवित्र भारतभूमिमें विदेशी शासकोंकी धार्मिक कट्टरता अपनी पराकाष्ठापर थी, कुराज्यका बोलबाला था, भारतीय संस्कृतिका गौरवमय भविष्य-अन्धकारके सीकचोंमें तड़प रहा था, उस समय महाराष्ट्रमें भागवत दूतके रूपमें ईश्वरीय संदेशका प्रचार करनेके लिये, धरतीपर रामराज्यका अवतरण सम्भव करनेके लिये समर्थ रामदासका प्राकट्य हुआ। निस्संदेह वे समर्थ रामके दास थे। उन्होंने स्वराज्यके संस्थापक महाराज छत्रपति शिवाजीसे तथा भारतीय जनतासे कहा कि 'जब धर्मकी ग्लानि

हो जाय, तब जीनेकी अपेक्षा मर जाना अच्छा है। धर्मके समाप्त होनेपर जीवित रहनेका कोई अर्थ नहीं है।' उन्होंने महाराज शिवाजीसे कहा—'मराठोंको एकत्र कीजिये, धर्मको फिर जीवित कीजिये, हमारे पूर्वज, पितर स्वर्गसे हमारे ऊपर हँस रहे हैं।' समर्थ रामदासने समस्त भारत-भूमिको उस समय धार्मिक जागरण प्रदान किया, धर्मराज्यकी स्थापनाका शुभ संदेश दिया।

संत समर्थ रामदासने प्राणोंकी बाजी लगाकर स्वदेश और स्वधर्म तथा स्वराज्यपर सर्वस्व निछावर करनेका पाठ पढ़ाया। उनका उदय-काल विक्रमीय सत्रहवीं शतीका तीसरा चरण था। उस समय दिल्लीके सिंहासनपर औरंगजेबका आधिपत्य था। समर्थ रामदासने धार्मिक क्रान्तिका सृजन किया। उनका धर्म भागवतधर्म था, सद्धर्म था। समर्थ युगपुरुष थे। उनके सत्प्रयत्नोंसे भारतीय संस्कृति यथास्थान रह सकी। उन्हें धार्मिक या आध्यात्मिक क्रान्ति करनी नहीं पड़ी; वह अपने आप हो गयी। उन्होंने सामाजिक और धार्मिक रीति-नीतिमें संतुलन सम्भव किया। उन्होंने दोनों-का वैष्णवीकरण किया, वैष्णव धर्म-वैष्णव समाज—भागवत धर्म-भागवत समाजको मान्यता दी।

समर्थ रामदासके पूर्वज बड़े भगवन्निष्ठ और धर्मपरायण थे। उनका कुल परम भागवत था। हैदराबादके औरंगाबाद जनपदके आबन्द नामक मण्डलके जाम्ब गाँवमें उनके मूल पुरुष कृष्णाजी पन्त आकर बस गये थे। समर्थ रामदासके पिता सूर्याजी पन्त थे। वे भगवान् सूर्यके भक्त थे। उनकी माता रेणुबाई भी सती-साध्वी और धर्ममें अमित रुचि रखने-वाली थीं। सूर्याजी पन्तने छत्तीस सालतक भगवान् सूर्यकी उपासना की थी; उनके वरदानसे उन्हें दो पुत्र हुए। पहले पुत्रका नाम गंगाधर—रामी रामदास था। दूसरे पुत्रने संवत् १६६५ वि०में चैत्र रामनवमीको ठीक दोपहरके समय जन्म लिया। उनका नाम 'नारायण' रखा गया। वे ही चरितनायक रामदासके रूपमें प्रसिद्ध हुए।

एक बार उनके माता-पिता उन्हें महात्मा एकनाथका दर्शन करानेके लिये पैठण ले गये। एकनाथजीने देखते ही कहा कि 'ये हनुमानजीके अंशसे प्रकट हुए हैं; बहुत बड़े महात्मा होंगे।'

समर्थ रामदासका पालन-पोषण धार्मिक वातावरणमें हुआ। वे बचपनमें बड़े चञ्चल स्वभावके थे। खेल-कूदमें ही उनका अधिकांश समय बीतता था। नदीके तटपर घूमना, पहाड़के शिलाखण्डोंपर चढ़ना-उतरना तथा वृक्षोंपर झूला झूलना ही उनका काम था। पाँच सालकी अवस्थामें उनका उपनयन-संस्कार हो गया। पिताकी मृत्यु हो गयी। शिक्षा-दीक्षापर रेणुबाईने ध्यान रखा। उनकी कृपामयी वत्सलतासे रामदासमें शील, संयम और सदाचार आदि बढ़ने लगे। सूर्यदेवको नित्य वे दो हजार नमस्कार करते थे। हनुमानजीके प्रति उनके मनमें सहज अनुराग था। उनका निश्चय था कि हनुमानजी ही मेरे गुरु हों। वे अपने गाँवके हनुमान-मन्दिरमें जाकर ध्यान करने लगे। उनका दृढ़ व्रत था कि जबतक हनुमानजीका दर्शन नहीं होगा, तबतक मैं अन्न-जल—कुछ भी ग्रहण नहीं करूँगा। हनुमानजीने उनकी निष्ठासे प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिया; स्वयं श्रीरामने भी दर्शन दिया कि 'धर्मका प्रचार करो, लोक-कल्याण करो।' श्रीरामने उनका नाम नारायणसे रामदास रखा।

जब नारायण (रामदास) की अवस्था बारह सालकी हुई, माँने उनका विवाह करनेका निश्चय किया। विवाहकी बात सुनते ही वे उदास हो जाते थे। एक दिन तो विवाहकी चर्चा छिड़ते ही घरसे भाग निकले और दो-तीन दिनोंतक कहीं छिपे रहे। माताके समझानेपर कहा कि 'बड़े भाईने तो विवाह कर ही लिया है, वंश चलते रहनेका निश्चय तो हो ही गया है; अब मेरे लिये विवाहकी आवश्यकता ही नहीं रह गयी है।' बहुत कहने-सुननेपर वे विवाहके लिये प्रस्तुत हो गये। माँने कहा कि 'जबतक अन्तरपटका संस्कार समाप्त न हो जाय, तबतक विवाहसे इंकार मत करना।' रामदासने बात मान ली। उनका विवाह आसन-नामक गाँवमें निश्चित हो गया। वे सजकर मण्डपमें बैठे थे। ब्राह्मणोंने वर-वधूके बीच अन्तरपटवाला विधान सम्पन्न करना चाहा। उसके समाप्त होते ही पण्डितोंने कहा—'शिवमङ्गल ! सावधान !' रामदासके अन्तश्चक्षु खुल गये। उन्होंने सोचा कि मैं तो सावधान हूँ ही, पर यदि ब्राह्मण सावधान होनेकी चेतावनी देते हैं तो इसका कोई-न-कोई विशेष अर्थ अवश्य है। उन्होंने ब्राह्मणोंसे रहस्य पूछा तो वे बोल उठे कि 'अब तुम गृहस्थीकी बेड़ीमें जकड़ गये, इसलिये सावधान हो जाओ।' रामदास सावधान हो गये। वे उसी समय विवाह-मण्डपसे भाग चले। गोदावरीके तटपर पहुँच-कर कहा कि 'माँ ! मुझे अपनी गोदमें लेकर उस पार उतार

दीजिये। आप पुण्यसलिला हैं, पापताप-संहारिणी हैं, असहाय-की रक्षा कीजिये।' वे गोदावरीकी धारामें कूद पड़े, तैरकर उस पार राघवेन्द्र और भगवती सीताकी तपोभूमि पञ्चवटीमें पहुँच गये। पञ्चवटीमें उन्हें साक्षात् श्रीरामका दर्शन हुआ। उन्होंने करुणापूर्ण मार्मिक वाणीमें भगवान्‌का स्तवन किया। इस घटनाके बाद उन्होंने तपस्याका जीवन आरम्भ किया। वे गोदावरी और नन्दिनीके संगमवाले तटपर टाकली-नामक एक गाँवकी गुफामें निवास कर तप करने लगे। वे रातके पिछले पहरसे ही उठकर श्रीरामका चिन्तन करते थे। दोपहरतक नदीमें स्थिर होकर 'श्रीराम जय राम जय जय राम' मन्त्रका अनुष्ठान करते थे। अड़ोस-पड़ोससे मधुकरी माँगकर भगवान्‌को समर्पित करके प्रसाद पाते थे। तपसे उनका शरीर तेजोमय हो उठा। मुखमण्डलपर दिव्य प्रकाश छा गया। उन्होंने टाकलीमें तीन सालतक कठोर तप किया। एक दिन उपर्युक्त संगमपर वे अनुष्ठान कर रहे थे। एक युवतीने उनको प्रणाम किया। संतने 'अष्टपुत्रसौभाग्यवती भव' आशीर्वाद दिया। स्त्री आश्चर्यचकित हो गयी। उसने कहा कि 'महाराज! मैं तो विधवा हूँ; मेरे पतिकी मृत्यु हो गयी है। मैं सती होने जा रही हूँ। कुल-परम्पराके अनुसार चितामें चढ़नेके पहले आपसे आशीर्वाद लेने आयी थी।' संत समर्थने स्त्रीके पतिके शवपर गोदावरीका पवित्र जल छिड़का, रामनामका स्मरण किया। वह जीवित हो उठा। उसने उनकी चरणधूलि मस्तकपर चढ़ाकर कहा कि 'मैं आपके दर्शनसे धन्य हो गया। आपने मुझे मृत्युके हाथसे छुड़ा लिया। मेरा नाम गिरिधर पन्त है। यह मेरी पत्नी अन्नपूर्णा बाई है।' समर्थने कहा कि 'पहले मैंने आठ संतान होनेकी बात कही थी, भगवान्‌की कृपासे दस संतानकी प्राप्ति होगी।' गिरिधर पन्तने अपने पहले पुत्र उद्धव गोस्वामीको समर्थके चरणोंपर समर्पित किया था। वे उनके प्रधान शिष्य थे। संत समर्थने बारह सालतक टाकलीमें तप किया। उसके बाद भगवान् श्रीरामके आदेशसे वे तीर्थयात्रा और भागवत धर्मके प्रचारके लिये निकल पड़े।

समर्थ रामदासने काशी, अयोध्या, गोकुल, वृन्दावन, मथुरा, द्वारका, श्रीनगर, बदरीनारायण, केदारेश्वर, जगन्नाथपुरी, रामेश्वर आदिकी यात्रा की; संतोंका समागम-लाभ किया। गोकर्ण, महाबलेश्वर, शेषाचल, शैलमल्लिकार्जुन, पञ्चमहालिङ्ग, किष्किन्धा, पम्पासरोवर, परशुराम-क्षेत्र तथा पंढरपुर होते हुए वे पञ्चवटी पहुँच गये। उन्होंने इस तीर्थ-यात्रा-कालमें अनेक मठ स्थापित किये, श्रीराम और हनुमानजीके मन्दिरोंका निर्माण कराया। इस प्रकार बारह सालकी तीर्थयात्रामें उन्होंने देश-कालकी परिस्थितिका अनुभव कर आध्यात्मिक और सांस्कृतिक अभ्युत्थानका महामन्त्र जगाया। उन्होंने धर्मका सारतत्त्व समझाकर देशको श्रीराघवेन्द्रके राज्यादर्शका मर्म बताया, धर्माचरणका पवित्र संदेश दिया।

उन्होंने गोदावरीकी परिक्रमा आरम्भ की। वे एक दिन एकनाथ महाराजकी समाधिका दर्शन करने पैठण गये। लोगोंने उनको पहचान लिया। कहा कि 'आपकी माताकी नेत्र-ज्योति चली गयी। वे आपको देखनेके लिये रोते-रोते अन्धी हो गयी हैं।' समर्थ माताके दर्शनके लिये चल पड़े। जाम्बमें अपने द्वारपर पहुँचते ही उन्होंने 'जय जय रघुवीर समर्थ' की आवाज लगायी। भावज भिक्षा देने आयी तो संत समर्थने कहा कि 'यह साधु केवल भिक्षा लेकर ही लौटनेवाला नहीं है।' माताने उनकी आवाज पहचान ली। वे 'नारायण-नारायण' पुकारती बाहर आ गयीं। माताकी चरण-धूलि लेनेके बाद समर्थने उनके नेत्रोंपर हाथ फेरा, ज्योति लौट आयी। माँने पूछा कि 'तुमने किस जादूगरको वशमें किया है?' समर्थने कहा कि 'माँ! मैंने अयोध्या और मथुरा-वृन्दावनमें लीला करनेवालेको वशमें किया है।' घरमें आनन्द छा गया। बड़े भाईने उनको देखते ही गले लगा लिया। माताके आग्रहसे वे कुछ दिन घरपर ठहर गये। चलते समय उन्होंने माँको 'कपिलगीता' सुनायी, जिसको भगवान् कपिलने देवहूतिको सुनाया था। इस प्रकार आत्मबोध देकर वे गोदावरीकी परिक्रमामें प्रवृत्त हुए। उसके बाद पञ्चवटी आकर श्रीरामचन्द्रका दर्शन किया। उन्होंने टाकलीकी यात्रा की। टाकलीमें उनसे उद्धव गोस्वामी मिले। इस प्रकार बारह साल तपस्या और बारह साल यात्रामें लगाकर वे कृष्णा नदीके तटपर आ गये। कृष्णा नदीके उद्गम महाबलेश्वर क्षेत्रमें रहकर उन्होंने धर्म-प्रचार किया। चार मासके बाद वे कृष्णा और वेणा नदीके संगमपर माहुली क्षेत्रमें आकर रहने लगे। बड़े-बड़े साधु-संत उनका सत्सङ्ग करने लगे। उनके शिष्योंकी संख्या वेगसे बढ़ने लगी। तुकारामजी महाराजका भी उनसे सत्सङ्ग हुआ था। कुछ दिनोंके बाद वे शाहपुरके निकट एक पहाड़ी गुफामें एकान्त-सेवन करने लगे। बड़े-बड़े सामन्तों और राजाओं-महाराजाओंने अपने आपको उनके चरणोंमें समर्पित कर दिया।

संत समर्थ अधिकांश रूपमें चाफलमें रहते थे। कभी-कभी देशके विभिन्न भागोंमें परिभ्रमण भी कर लिया करते थे। एक बार पंढरपुरमें उनकी श्रीतुकाराम महाराजसे भी भेंट हुई थी। यह मिलन अध्यात्म और इतिहास—दोनोंकी दृष्टिसे अमित गौरवपूर्ण है। दोनोंने भगवती भीमाके तटपर एक-दूसरेका साक्षात्कार-लाभ किया। तुकारामजी उन दिनों पंढरपुरमें थे। उन्होंने पंढरीनाथके दर्शनके लिये संत समर्थका आगमन सुनकर स्वागतके लिये अपने शिष्योंके साथ भीमाके तटकी ओर प्रस्थान किया। समर्थ भीमाके उस किनारेपर थे। दोनोंने एक-दूसरेको दोनों तटोंसे देखा। तुकाराम जोर-जोरसे रोने लगे और संत समर्थ हल्ला मचाने लगे, जोर-जोरसे चिल्लाने लगे। शिष्यों तथा दर्शनार्थियोंकी समझमें यह बात तनिक भी न आ सकी। जिज्ञासा प्रस्तुत करनेवालोंसे तुकारामने कहा कि 'मैं अपनी आँखोंमें आँसू भरकर संसारके लोगोंको समझा रहा था कि विनाशशील संसार और उसकी भौतिकताका त्याग कर भगवान्‌के भजनमें लग जायँ, लेकिन मेरी बात कोई सुनता ही नहीं।' समर्थ रामदासने कहा कि 'मैं संसारके लोगोंसे जोर-जोरसे यही कह रहा था कि भौतिक समृद्धि-वृद्धिके लिये वे जिस रास्तेपर चल रहे हैं, वह व्यर्थ और गलत है; पर मेरी भी कोई नहीं सुनता।' रामदासजीने संत तुकारामसे कहा कि 'आपके अश्रुका इस जागतिक प्रपञ्चमें मूल्य ही क्या है। मेरी आवाज भी सांसारिक जीवनमें आसक्त लोगोंके शोरगुलमें दब गयी है।' दोनों-के-दोनों एक-दूसरेकी आध्यात्मिक सिद्धियोंके प्रति अमित आकृष्ट थे।

संत समर्थ और छत्रपति शिवाजीका मिलन भी तत्कालीन इतिहासकी एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उस समय महाराष्ट्रमें संत तुकारामकी प्रसिद्धि बहुत बढ़ रही थी। शिवाजी महाराजने उनको अपना गुरु बनाना चाहा था। पर तुकारामजीने बड़ी विनम्रतासे समर्थ रामदासके लिये सम्मति दी। शिवाजी संत समर्थके दर्शनके लिये बड़े उत्सुक थे। उनका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ था। एक ही स्थानपर वे कभी स्थायी रूपसे नहीं रहते थे। इधर-उधर घूमते रहते थे। महाराजने एक पत्र लिखकर उनसे पथ-प्रदर्शनका आग्रह किया था। संवत् १७०६ वि०के लगभग चाफलके समीप शिंगणवाड़ीमें एक गूलरके पेड़के नीचे बैठे हुए संत समर्थका शिवाजी महाराजको दर्शन हुआ। वे उस समय उन्हींका पत्र पढ़ रहे थे। समर्थ रामदासजीने शिवाजीकी विशेष श्रद्धा देखकर उनको शिष्य-रूपमें स्वीकार कर लिया और धर्मपूर्वक राज्य करनेका सदुपदेश दिया। इस घटनाके बाद समर्थ रामदासने कुछ दिनोंतक पार्लीमें निवास किया। पार्लीका नाम सज्जनगढ़ हो गया। संवत् १७१२ वि०के लगभग महाराज शिवाजी सताराके किलेमें निवास कर रहे थे। एक दिन कुछ शिष्योंके साथ भिक्षा माँगते हुए समर्थ सतारा पहुँच गये। किलेके द्वारपर पहुँचते ही उन्होंने 'जय जय समर्थ रघुवीर'का जयघोष किया। शिवाजी महाराजने एक पत्र लिखवाकर उनकी झोलीमें डाल दिया। पत्रमें लिखा था कि 'आजसे मेरा समस्त राज्य पूज्य गुरुदेवका है।' संत समर्थने शिवाजीकी परीक्षा ली—आप क्या करेंगे।' उन्होंने कहा—'मैं आपके पीछे-पीछे घूमूँगा।' शिवाजीने उनके साथ कंधेपर झोली रखकर भिक्षा माँगी। समर्थने समझाया कि 'आपका धर्म है—राजकार्य करना।' उन्होंने सद्गुरुतत्त्वपर प्रकाश डालते हुए कहा कि 'जो ब्रह्मज्ञानका उपदेश करे, अज्ञानका अन्धकार नष्ट करे, जीवात्माका परमात्माके साथ संयोग करावे, जीवत्व और शिवत्वके कारण ईश्वर और भक्तमें होनेवाला भेद दूर करे, परमेश्वरसे भक्तको मिलावे, वही सद्गुरु है'—

जो ब्रह्मज्ञान उपदेशी। अज्ञानअंधारें निरसी॥
जीवात्मयां परमात्मयांसी। ऐक्यता करी॥
बिघडले देव आणी भक्त। जीवशिवपणें द्वैत॥
तया देवभक्तां येकांत। करी तो सद्गुरु॥

(दासबोध ५।२।९-१०)

शिवाजीने सिंहासनपर संत सद्गुरुदेवकी चरण-पादुका रखकर राज्य करना आरम्भ किया; धर्मराज्यकी स्थापना हुई। उन्होंने गुरुके प्रति आदर दिखानेके लिये ध्वजाका भगवा रंग कर दिया। शिवाजीने उनकी छत्रछायामें भागवत धर्म स्वीकार कर स्वराज्य-व्रतका पालन किया। संत समर्थने समझाया कि 'देव-मन्दिर विदेशी शासनद्वारा भ्रष्ट हो रहे हैं, सज्जन उत्पीड़ित किये जा रहे हैं, धर्म और संस्कृति खतरेमें हैं। हे वीर! भारतभूमिका संरक्षण कीजिये। आप धर्मको बचाइये, उसकी रक्षा कीजिये। ईश्वरके भक्तोंकी सदा विजय होती है।' समर्थ रामदासके संकेतपर शिवाजी सर्वस्वकी बाजी लगा देनेमें आत्मगौरव समझते थे। संत समर्थने जनताको स्वराज्यका वास्तविक रूप समझाया।

उन्होंने स्वराज्यका तात्पर्य आत्मनिष्ठामें प्रतिष्ठित किया। स्वराज्य अथवा आत्मराज्यका रहस्य संतोंसे ही जाना जाता है। निराकार आत्मा ही शाश्वत सत्य है। उस आत्माका किसीको पता नहीं चलता। विना ज्ञानके उसका आकलन नहीं होता। उसके सम्बन्धमें संतोंसे पूछना चाहिये—

शाश्वत आत्मा निराकार। सत्य जाणावा ॥
तो आत्मा कोणास कळेना। ज्ञानेंविण आकळेना ॥
म्हणोनियां संतजना। विचारावें ॥

(दासबोध १३ । ६ । ११-१२)

संत समर्थ अच्छी तरह समझते थे कि 'स्व'पर राज्य करनेके लिये सात्त्विकता और धर्माचरणकी बड़ी आवश्यकता है। उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया था कि भारतीय स्वराज्य और धर्मका संरक्षण संत ही कर सकते हैं। संत समर्थ रामदासकी कृपासे लोगोंमें आत्मचेतना जागरित हो उठी। उन्होंने लगभग सात सौ मठोंकी स्थापना कर देशको आत्मज्योति, सांस्कृतिक गौरव और धर्मराज्यसे सम्पन्न किया। उन्होंने जनताको संत-मतका स्वरूप समझाया। महाराजने कहा कि 'साधुका मुख्य लक्षण यह है कि वह सदा अपने स्वरूपका अनुसंधान करता रहता है। ज्यों ही उसकी दृष्टि स्वरूपपर पड़ती है, त्यों ही उसकी सांसारिक चिन्ताएँ नष्ट हो जाती हैं और अध्यात्म-निरूपणके प्रति ममता उत्पन्न होती है।'

सदा स्वरूपानुसंधान। हें मुख्य साधूचें लक्षण ॥
जनीं असोन आपण। जनावेगळा ॥
स्वरूपीं दृष्टी पड़तां। तुटोन गेली संसारचिंता ॥
पुढें लागली ममता। निरूपणाची ॥

(दासबोध ८ । ९ । ९-१०)

उन्होंने स्वराष्ट्र—भारतदेशको भगवान् रामकी भक्तिसे सम्पन्न किया। उन्होंने कहा कि 'जिसने मद, मत्सर और स्वार्थका त्याग कर दिया है, जिसे सांसारिक बन्धन नहीं है, जिसकी वाणी नम्र और मधुर है, वही रामका सच्चा सेवक अथवा भक्त है। पृथ्वीपर उसका जीवन धन्य है।' उन्होंने श्रीरामचन्द्रकी भक्तिको ही सर्वश्रेष्ठ और परम श्रेयस्कर स्वीकार किया; आत्मस्वरूपस्थ रहनेकी ही सीख दी। उनकी सरस उक्ति है—

घनश्याम हा राम लावण्य रूपी। महाधीर गंभीर पूर्ण प्रतापी ॥
करी संकटीं सेवकांचा कुडावा। प्रभाते मनीं राम चिंतीत जावा ॥

(मनाचे श्लोक ६७)

'श्रीराम नीले बादलके समान सुन्दर हैं। वे बड़े गम्भीर, धीर और प्रतापी हैं, संकट-कालमें भक्तकी रक्षा करते हैं। हे मन! प्रभात कालमें उन्हींका स्मरण करो।'

श्रीरामको ही उन्होंने परम शक्तिमान् स्वीकार किया, संतोंका उपास्य बताया। उन्होंने कहा कि 'जिस मनुष्यके मुखसे राम-नाम-मन्त्रका उच्चारण नहीं होता, वह संसारमें बहुत बड़ी हानि उठाता है। जिसका जीवन व्यर्थ है, उसीको राम-नाममें रस नहीं मिलता। भगवन्नाम ही परम श्रेष्ठ है, यह वेद और शास्त्र तथा व्यासजीका मत है।' हमें इसीका आश्रय लेना चाहिये। यह सर्वथा सत्य है।' संत समर्थने वर्णाश्रम-धर्ममें बड़ी निष्ठा प्रकट की। आत्मकल्याण और लोकहितको सत्य और आत्माकी ज्योतिसे समृद्ध कर समर्थ रामदासने अपने संतपनकी रक्षा की। महाराजने कहा कि 'भगवान्‌को जाननेवाला ही संत कहलाता है और वही शाश्वत तथा अशाश्वतका निर्णय करता है। जिसने मनमें समझ लिया है कि "ईश्वर अचल हैं, उसको महानुभाव तथा संत और साधु समझना चाहिये।"

जो जाणेल भगवंत। तया नांव बोलिजे संत ॥
जो शाश्वत आणि अशाश्वत। निवाडा करी ॥
चळेना ढळेना देव। ऐसा ज्याचा अँतर्भाव ॥
तोचि जाणि चे माहानुभाव। संत साधु ॥

(दासबोध ६ । १ । १६-१७)

संत समर्थने भगवान् रामकी भक्तिके बलपर सत्य-धर्मका संरक्षण किया; संतका कर्तव्य निबाहा। उन्होंने भगवद्भक्तिकी व्याख्यामें कहा कि 'भगवच्चरणकी शरणागति ही श्रेय है, मृत्युपर विजयकर अमरताका वरण करना ही आत्मचिन्तनका परम रहस्य है। आत्मचिन्तनसे ही भगवान् प्रसन्न होते हैं, समाजका कल्याण होता है, प्राणियोंको सुख मिलता है।' महाराजका कथन है कि 'जिन लोगोंके पास पूर्वजन्मकी संचित यथेष्ट पुण्य-सामग्री होती है, वे ही भगवद्भक्ति कर सकते हैं। जो जैसा करता है, वह वैसा फल पाता है।'

पुण्यसामग्री पुरती। तयासीच घडे भगवद्भक्ती ॥
जे जे जैसें करिती। ते पावती तैसेंचि ॥

(दासबोध २ । ४ । २७)

संत समर्थ रामदासने रामभक्तिको ही परमगति स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि 'राम राघवका रूप आकाशके समान है। उनके रूपका चिन्तन करते रहनेसे भवका जडोन्मूलन हो जाता है, संसारका अस्तित्व समाप्त हो जाता है— देहभाव मिट जाता है। मन उन्हींको सदा देखना चाहता है; उसे कभी तृप्ति मिलती ही नहीं'—

नभासारिखें रूप या राघवाचें। मनीं चिंतितां मूळ तुटे भवाचें॥
तया पाहतां देहबुद्धि उरेना। सदा सर्वदा आर्त पोटीं पुरेना॥

(मनाचे श्लोक १९७)

महाराजने भगवान्‌के कीर्तनपर बड़ा जोर दिया। उन्होंने कीर्तनको कलियुगका धर्म कहा। कीर्तनके स्वरूपका बड़ा ललित वर्णन उन्होंने 'दासबोध'में किया है। 'कलियुगमें भगवान्‌का कीर्तन करना चाहिये। वह कीर्तन केवल कोमल शब्दोंमें कुशलतापूर्वक करना चाहिये। कठोर, कर्कश और बुरी बातें एकदम छोड़ देनी चाहिये। कीर्तनके द्वारा संसारके सब झगड़ों-बखेड़ोंका अन्त कर देना चाहिये। खलोंसे झगड़ा नहीं करना चाहिये, न झूठी-सच्ची बातोंसे अपनी शान्ति भङ्ग होने देनी चाहिये'—

कलयुगीं कीर्तन करावें। केमळ कोमळ कुशळ गावे॥
कठीण कर्कश कुटें सांडावे। येकीकडे॥
खटखट खुंट्न टाकावी। खळखळ खळांसीं न करावी॥
खरें खोटें खवळों नेदावीं। वृत्ती आपुली॥

(दासबोध १४।४।१-२)

संत समर्थने भगवान्‌की भक्ति सुदृढ़ करनेके लिये शास्त्रोंको मथकर तथा आत्मानुभूतिका प्रश्रय लेकर 'दासबोध', 'मनाचे श्लोक' आदि आध्यात्मिक काव्योंके रूपमें भागवत वाङ्मय—दिव्य अध्यात्म-साहित्य प्रदान किया। उन्होंने कविताकी सार्थकतापर प्रकाश डालते हुए कहा कि 'कविता शब्दरूपी फूलोंकी माला है और उसमेंसे अर्थरूपी सुगन्धित परिमल निकलता है, जिससे संतरूपी भ्रमर आनन्द प्राप्त करते हैं।'

कवित्व शब्द-सुमनमाळा। अर्थ परिमळ आगळा॥
तेणें संतषट्पदकुळा। आनन्द होये॥

(दासबोध १४।३।१)

संत समर्थ रामदासने गृहस्थ, संन्यासी, विरक्त और भक्तके लिये भक्तिका ही मार्ग उत्तम बताया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि 'भगवान् केवल भक्तिभावके भूखे हैं। वे भक्ति देखकर भूल जाते हैं और भक्तकी संकटसे रक्षा करते हैं। जिसे भगवान्‌से प्रेम होता है, उसकी भगवान् भी चिन्ता रखते हैं और अपने दासके समस्त सांसारिक दुःख दूर करते हैं। जो लोग ईश्वरके समीप पहुँच जाते हैं, वे आत्मानन्दका भोग करते हैं। ऐसे लोग धन्य हैं'—

भगवंत भावाचा भुकेला। भावार्थ देखोन भुलला॥
संकटीं पावे भाविकाला। रक्षितसे॥
जयास भगवंत आवडे। तयाचें देवांसीं सांकडें॥
संसारदुःख सकळ उडे। निज दासाचें॥
जे अंकित ईश्वराचे। तयास सोहळे निजसुखाचे॥
धन्य तेचि दैवाचे। भाविक जन॥

(दासबोध ३।१०।१०-१२)

उन्होंने कहा कि 'धर्म भगवद्भक्तिसे ही सुरक्षित रह सकता है। भक्ति ही आत्माका धर्म है, इसलिये प्राणीमात्रके लिये भगवान् ही—राम ही सेव्य हैं; उपास्य और आराध्य हैं।' महाराजने मनको प्रबुद्ध किया कि 'हे मन! भगवत्कीर्तनमें रामका प्रेम धारण करना चाहिये, निरूपण करते समय देहका विस्मरण कर देना चाहिये। परधन और परस्त्रीकी कामनाका त्याग करना चाहिये'—

हरीकीर्तनीं प्रीति रामीं धरावी। देहेबुद्धि निरूपणीं वीसरावी॥
परद्रव्य आणीक कांता पराबी। यदर्थीं मना सांडि जीवीं करावी॥

(मनाचे श्लोक १०३)

समर्थ रामदासका 'दासबोध' भक्तिशास्त्र है, स्वराज्यका साहित्य है, आत्माका भागवत काव्य है। 'दासबोध'के अक्षर-अक्षरमें परमात्माकी भक्ति अङ्कित है। उसमें राष्ट्रीय जागरणके महामन्त्रकी—स्वराज्य-मन्त्रकी व्याख्या संतवाणीमें की गयी है। 'दासबोध' मध्यकालीन संत-साहित्यके उज्ज्वलतम रूपके परिचायकोंमेंसे एक है। आत्माराम, पञ्चमान, मानपञ्चक, पञ्चीकरणयोग आदि उनके अन्य ग्रन्थ हैं।

संत समर्थ रामदासने राष्ट्रीय जागरणका मूलाधार परमात्माके अन्वेषणमें—सत्यके अनुसंधानमें स्थिर किया। उन्होंने कहा—

जगीं पाहतां साच तें काय आहे।
अतीआदरें सत्य शोधूनि पाहे॥
पुढें पाहतां पाहतां देव जोडे।
भ्रम भ्रांति अज्ञान हें सर्व मोडे॥

(मनाचे श्लोक १४४)

आशय यह है कि संसारमें बड़ी सावधानीसे सत्यकी खोज करनी चाहिये। ऐसा करनेपर ईश्वरकी प्राप्ति होती

है, भ्रम-भ्रान्ति और अज्ञानका अन्त हो जाता है। महाराजका कथन है कि 'अनन्त जन्मोंका पुण्य संचित होनेपर ही परमार्थका साधन होता है और स्वयं परमात्माका अनुभव होता है। जिसने परमार्थको पहचाना, उसने अपना जन्म सार्थक कर लिया। और नहीं तो उस पापीने कुलका क्षय करनेके लिये ही जन्म लिया। जो बिना भगवान्को प्राप्त किये संसारका काम करता है, उस मूर्खका कभी मुख भी नहीं देखना चाहिये। अच्छे लोगोंको उचित है कि परमार्थकी सिद्धि करते हुए अपना शरीर सार्थक करें और ईश्वरकी भक्ति कर अपने पूर्वजोंका उद्धार करें'—

अनंत जन्मींचें पुण्य जोडे। तरीच परमार्थ घडे॥
मुख्य परमात्मा आतुडे। अनुभवासी॥
जेणें परमार्थ वोळखिला। तेणें जन्म सार्थक केला॥
येर तो पापी जन्मला। कुलक्षयाकारणें॥
असो भगवत्प्राप्तीविण। करी संसाराचा सीण॥
त्या मूर्खांचें मुखावलोकन। करूंच नये॥
भल्यानें परमार्थीं भरावें। शरीर सार्थक करावें॥
पूर्वजांस उद्धरावें। हरिभक्ती करूनी॥
(दासबोध १। ९। २४-२७)

संत समर्थके सहस्रों शिष्य थे। उनमें कल्याणस्वामी और उद्धव गोस्वामी प्रधान थे। कल्याणस्वामी प्रायः उन्हींके साथ रहा करते थे। उनके बनाये लेख, भजन तथा उपदेश लिपिबद्ध कर लिया करते थे। दत्त, अकाबाई और वेनुबाईकी गणना विशेष शिष्योंमें ही होती है।

समर्थ रामदासकी ईश्वरमें पूर्ण निष्ठा थी। उनकी शक्तिके सामने वे जगत्का मस्तक नत देखना चाहते थे। एक दिन सज्जनगढका किला बनवाते समय शिवाजी महाराजको अपनी शक्तिपर बड़ा अभिमान हुआ। उन्होंने सोचा कि मेरेद्वारा नित्य सहस्रों व्यक्तियोंका भरण-पोषण होता है। इतनेमें दैवयोगसे संत समर्थ आ पहुँचे। उन्होंने एक मजदूरसे पत्थरका एक टुकड़ा तोड़नेका संकेत किया। उसके भीतर एक छोटा-सा मेढ़क था, थोड़ा-सा पानी था। महाराजने शिवाजीसे कहा कि 'आप बड़े शक्तिशाली हैं। आपके सिवा जगत्के जीवोंका पालन-पोषण दूसरा कौन कर ही सकता है!' शिवाजीको अपनी भूल समझमें आ गयी। वे गुरुदेवके चरणोंपर गिर पड़े; उन्होंने क्षमा माँगी।

इसी प्रकार 'मनाचे श्लोक'की रचनाके सम्बन्धकी एक घटनाका उल्लेख संत समर्थके जीवन-चरित्रका आवश्यक अङ्ग-सा प्रतीत होता है। रामदासजी महाराज चाफल-निवास-कालमें प्रत्येक वर्ष रामनवमी-उत्सव धूमधामसे करते थे। शिष्य भिक्षा माँगकर उत्सव सम्पन्न किया करते थे। शिवाजी महाराजने बादमें उत्सवके लिये अपनी ओरसे सामग्री भेजना आरम्भ किया। एक साल उनकी ओरसे किसी कारणवश सामग्री समयपर न आ सकी। उत्सवमें केवल पंद्रह दिन रह गये थे। शिष्योंने आग्रह किया कि शिवाजीके पास पत्र लिखकर सामग्री मँगा ली जाय। महाराजने प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा कि 'भगवान् सर्वसमर्थ हैं; वे सामग्री भेज देंगे।' महाराजने रातको कल्याणस्वामीको अपने पास बैठाकर दो-सौ पाँच श्लोक लिखा दिये और तप करने चले गये। दूसरे दिन कल्याणस्वामीकी प्रेरणासे महाराजके शिष्योंने घर-घर घूमकर उन श्लोकोंका गान किया। भिक्षामें अमित सामग्री प्राप्त हुई। महाराजके आनेपर उत्सव विधिपूर्वक सम्पन्न हुआ। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि संतकी वाणीमें जो शक्ति है, वह राजाकी सत्तामें नाम-मात्रको भी नहीं है। इस प्रकार 'मनाचे श्लोक'की रचना कर समर्थ रामदासने अपनी भगवन्निष्ठाकी सत्यता चरितार्थ की। उनका सम्पूर्ण जीवन वैराग्य और त्यागमय था।

संवत् १७३७ वि० में उनके प्रिय शिष्य महाराज शिवाजीका स्वर्गवास हो गया। उनकी मृत्युसे समर्थ रामदासके हृदयको बड़ा धक्का लगा। उन्होंने अन्नका त्याग कर दिया, केवल दूधपर रहने लगे। लोगोंको दर्शन देना बंद कर दिया। कभी मढ़ीसे बाहर नहीं निकलते थे। महाराज शम्भाजी शक्तिहीन थे। महाराष्ट्रपर औरंगजेबके उत्पात आरम्भ हो गये। ऐसी परिस्थितिमें संत समर्थकी चिन्ता बढ़ गयी। संवत् १७३९ वि०की माघ कृष्ण नवमीको उन्होंने महाप्रयाण किया। उनके मुखसे 'हर-हर'का उच्चारण होनेके बाद राम-नामका जयघोष हुआ। उसके बाद उनके मुखसे एक दिव्य ज्योति निकलकर श्रीरामके विग्रहमें समा गयी। उनका अन्तिम समय सज्जनगढ़में ही उपस्थित हुआ था। शिष्योंने उनके आदेशके अनुसार शरीरका दाह-संस्कार कर दिया। संत समर्थने अन्तिम समयमें कहा था कि "दासबोध' और 'आत्माराम' ग्रन्थमें मेरी आत्माका निवास है, उसीका पाठ करना चाहिये।" निस्संदेह वे समर्थ संत थे।

प्रार्थना

[जीवनसहचरसे]

दर्शन दो

निराशाकी तिमिरावृत रजनीमें दिङ्मूढ़ होकर मैं आशाकी एक किरण खोजता हूँ, विभ्रान्त बटोहीकी भाँति गन्तव्य-पथका संकेत चाहता हूँ; कहाँ है मेरे जीवनाकाशका कमनीय किरणमाली, जो कृपाकी काञ्चन किरणें बिखेरकर अन्तर्लोकको नूतन आलोकसे भर दे ? कौन असहायका सहायक होगा, कौन हाथ पकड़कर मुझे मेरी मंजिलतक पहुँचा देगा ? हे मेरे नित्य सहचर ! तुम कहाँ छिपे बैठे हो ? आओ, दर्शन दो, कृतार्थ करो। ले चलो मुझे अपने साथ, जहाँ तुम्हारा जी चाहे। तुम्हीं मेरे मार्ग हो, तुम्हीं मंजिल। अनाथनाथ ! तुम्हारे ही हाथ थामकर साथ-साथ चलना है और तुमको ही पाना है। सुना है, तुम सबको नित्यप्राप्त हो; किंतु मेरे लिये ? मेरे लिये तो तुम अप्राप्त-से ही हो रहे हो; अत्यन्त निकट रहकर भी दूर हो गये हो; कोमलचित्त होकर भी क्रूर बन गये हो। संसारके इस निविड़ कान्तारमें मेरी आर्त्त-पुकार सुनकर भी क्यों अनसुनी कर रहे हो ? प्राणोंके प्राण ! तुम्हें छोड़कर दूसरा कौन परित्राण करेगा करुणामयके सिवा ! कौन कुटिलका कल्याण करेगा !

माधव ! मेरा मानस युगोंसे रसहीन—शुष्क पड़ा है; हे मेरे नीलचन्द्र ! इसमें अपनी अमृतमयी चन्द्रिका उड़ेल दो। प्रणय-रसकी उत्ताल तरंगें उत्थित होने दो। यहाँ प्रीतिकी कुमुद-पङ्क्ति प्रस्फुटित हो, श्रद्धा एवं सद्भावके शतदल खिल उठें तथा रसप्रवण प्राण-मधुपोंका कृतज्ञतापूर्ण गुञ्जारव सब ओर गूँजने लगे। इसका तटप्रान्त तुम्हारी पावन लीलास्थली बन जाय। तुम तो लीलामय हो; जहाँ रहते हो, वहीं लीलाका प्रवाह चलता रहता है। एक बार इस मानस-तटको भी निज-लीलाका रङ्गस्थल बननेका सौभाग्य प्रदान कर दो न, नाथ ! नटवरनागर नन्दकिशोर !

मेरा मानस तो केवल तुम्हारा अभिराम आराम है; इसमें 'काम' कहाँसे घुस आया ? श्यामके धाममें उद्दाम वामपंथी काम ! राम-राम ! यह तो बड़े अनर्थकी बात है !! मैं तो दुर्बल हूँ, अतः इस बलवान् दस्युका, जो क्रोधका भी उद्भावक है, प्रतिरोध नहीं कर पाता हूँ; परंतु तुम तो सबल-शिरोमणि हो, दलबलसहित इस खलका काम तमाम क्यों नहीं कर देते ? यह इन्द्रिय, मन और बुद्धि—सबपर अधिकार जमाये बैठा है, गर्वसे ऐंठा है। इसके कान उमेठना तो, बस, तुम्हारे ही बसकी बात है। मैं तुम्हारा, तुम मेरे; हम दोनोंके बीच यह क्यों आये ? हमारे मधु-मिलनमें यह टाँग क्यों अड़ाये ? इस ढीठकी पीठ तो तुम्हीं लगा सकते हो ? इसके साथी-सँघाती बहुत हैं, इसमें हजार हाथियोंका बल है, परंतु बक्र-चालसे चलनेवाला तुम्हारा चक्र तो नक्रको भी धराशायी कर चुका है, फिर यह विषैला भुजङ्ग तुमसे क्या जंग करेगा ! तुम इसके विषोद्गारी दाँत तोड़ दो और मोड़ दो इसकी गतिको। यह तुम्हारा लीलाह्रद छोड़कर रमणकद्वीपमें भुजङ्गोंके ही समीपमें चला जाय।

और यदि रखना ही हो तो इस कामको गुलाम बनाकर रखो। तुम्हें देखकर तो कोटि-कोटि काम भी गुलाम बन जाते हैं; फिर इस एक कामकी क्या बिसात, जो रात-दिन तुम्हारी चाकरी न बजाये। यह रहे तो मेरे मनमें तुम्हारे संस्पर्श-सुखकी ही कामना जगाये, सांसारिक विषयोंके गीत न गाये, भोगोंकी भीख न मँगवाये।

हे प्रार्थनीय ! मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ। प्रार्थना याचनाका ही दूसरा नाम है। मेरे अन्तरकी अनन्त कामनाएँ और तृष्णाएँ जाने कहाँ-कहाँ हाथ पसारनेको विवश कर देती हैं और वहाँ मिलते हैं अपमान, उपेक्षा तथा रिक्तहस्तता। एक तुम्हीं ऐसे धनी हो, जहाँ याचना करनेसे याचककी याचकता ही जल जाती है, माँगने-याचनेकी इच्छा भी शान्त हो जाती है। तुम वह दाता हो, जो माँगनेवालेकी दीनता ही नहीं दूर करता, उसकी दयनीय दैन्यवृत्तिका ही दमन कर देता है। मैं भी यही चाहता हूँ, कुछ माँगने-पानेकी चाह ही न रह जाय। यदि कोई इच्छा हो तो तुम्हें पानेके लिये, तुम्हारे चिन्तन और भजनके लिये। यह इच्छा कभी शान्त न हो; तुम्हें पाकर भी और पानेके लिये उमड़ती रहे; एक बार देखकर भी पुनर्दर्शनके लिये निरन्तर उद्दीप्त होती रहे। तुम सर्वत्र भरपूर हो, फिर मुझसे दूर क्यों हो ? कृपया ऐसा करो, जिससे अन्तरका अन्तर मिट जाय, बाहरकी दूरी दूर हो जाय। उतार फेंको त्रिगुणात्मिका मायाके आवरणको। मैं शरणागत हूँ, प्रपन्न हूँ, फिर मुझसे पर्देका क्या काम ? यह दैवी माया मेरे लिये तो दुरत्यय नहीं रहनी चाहिये, मेरे जीवन-सहचर ! —तुम्हारा ही एक अकिंचन

योगिराज शिवका स्वरूप

(लेखक—श्रीभगवानशरणजी भारद्वाज 'प्रदीप')

भगवान् शिव विद्यातीर्थ हैं। उनसे निम्नलिखित विद्याओंका आविर्भाव हुआ है—१. योगशास्त्र, २. धनुर्वेद, ३. तन्त्र, ४. साबर मन्त्र, ५. व्याकरण, ६. आयुर्वेद, ७. भक्ति-शास्त्र, ८. स्वर-विज्ञान, ९. हस्त-रेखा-विज्ञान, १०.कथा। राजयोग, मन्त्रयोग और लययोगके प्रवर्तक भगवान् शिव माने जाते हैं। वे योगिराज हैं। शिवपुराणके अनुसार प्रत्येक युगके आदिमें भगवान् शंकर योगाचार्यके रूपमें आविर्भूत होकर शिष्योंको योग सिखाते हैं। शिवयोगके आचार्योंकी संख्या ११२ बतायी जाती है।

शिव भारतके जन-देवता हैं। प्रभासमें सोमनाथ, दक्षिणमें रामेश्वर, उत्तरमें केदारनाथ, अमरनाथ, उड़ीसामें भुवनेश्वर, उज्जैनमें महाकालेश्वर, मद्रासमें मल्लिकार्जुन, बिहारप्रदेशमें वैद्यनाथ, हैदराबादमें घृष्णेश्वरके रूपमें वे सम्पूर्ण भारतमें सुपूजित हैं। काठमाण्डूके पशुपतिनाथकी पूजा नेपालियोंद्वारा अत्यन्त श्रद्धापूर्वक होती है। बालिद्वीपमें बुद्धके साथ शिवकी पूजाका व्यापक प्रचलन है। बुद्धको उनका छोटा भाई माना जाता है। लाओसमें किसान खेतमें हल चलानेसे पूर्व शिवकी पूजा करते हैं। बैंकाकमें उच्च न्यायालयके सामने गङ्गाधर महादेवकी मूर्ति है। स्याममें भववर्माद्वारा प्रतिष्ठापित त्र्यम्बकेश्वरका लिङ्ग मिला है। मलायामें विष्णु और ब्रह्माके साथ शिवकी मूर्तियाँ भी प्रतिष्ठित हैं। वर्माके पगानमें शिवकी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। जापानके आईस-नगरमें शिवलिङ्गका अर्चन होता है। तिब्बतमें भगवान् शंकरके प्राचीन मन्दिर हैं। मंगोलियामें गङ्गाधर महादेवके प्रति अत्यन्त श्रद्धा है। गङ्गाजल वहाँ साक्षात् अमृत माना जाता है। अफगानिस्तानमें सरायखाजाके पास कलाम नगरमें 'जटाशंकर' प्रतिष्ठित हैं। अरबमें बड़ी मात्रामें शिवलिङ्ग मिले हैं और उन्हें 'संग-ए-असबद' नामसे पूजा जाता है। दक्षिण अमेरिकाके पेरु राज्यमें ब्राजीलके खण्डहरोंमें शिव-प्रतिमाएँ मिली हैं। मिस्रमें असिरिस और आईसिस नामसे नन्दीश्वर महादेवका पूजन होता है। कम्बूजके अनेक नगरोंके नाम भगवान् शिवके नामपर है। जैसे शम्भुपुरी। चम्पाके अनेक शासक शिवभक्त थे। उन्होंने अपना नाम जोड़कर शिवलिङ्ग प्रतिष्ठापित किये। जावाके कुंजरकुंज मार्गमें भगवान् शिवका मन्दिर है। यूनानमें बेसके और प्रियसान नामसे वृषभवाहन भगवान् शंकरकी पूजा प्रचलित रही है।

दुष्टोंको रुलानेके कारण वे 'रुद्र' कहलाते हैं—रोदयति दुष्टान् इति रुद्रः। दो नेत्र, दो नाक, दो कान, एक मुख, गुदा, उपस्थ, नाभि और आत्मा ही आध्यात्मिक क्षेत्रमें 'रुद्र' हैं। आधिभौतिक रुद्र हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत्, पवमान, पावक और शुचि। आधिदैविक रुद्र हैं—अजैकपाद्, अहिर्बुध्न्य, विरूपाक्ष, रैवत, हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, सावित्र, जयन्त, पिनाकी तथा अपराजित। (मत्स्य पु० अध्याय ५)। आत्मासहित दस वायु—प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजयको भी एकादश रुद्र कहा गया है।

शिवका डमरू नादका प्रतीक है। हाथी है—अहंकार। उसका चर्म धारण करनेका अर्थ है—अहंकारको वशीभूत

कर लेना । मृग चञ्चलताका प्रतीक है । मृग-चर्म धारण करनेका आशय है, चञ्चलताको नष्ट कर देना । व्याघ्र कामका द्योतक है । व्याघ्र-चर्मपर बैठनेका अर्थ है, काम-विजय । सर्प क्रोधका प्रतीक है । शिवने उसे वशीभूत कर लिया है ।

उनका रंग श्वेत है । श्वेत रंग सत्त्वगुण, ज्ञान, प्रकाश और अद्वैतका प्रतीक है । शंकर अपरिग्रहके प्रतीक हैं । अन्नपूर्णाको सम्मान देकर उन्होंने नारी-जातिकी गरिमा बढ़ायी है । स्वामी कार्तिकेय अग्नि-तत्त्वके प्रतीक हैं और गणेश सोम-तत्त्वके । विद्वानोंने स्कन्दको जीवात्मा और गणेशको अन्तःकरण भी माना है । विपरीत प्रकृतिवालोंके बीच भगवान् सामञ्जस्य रखते हैं । गणेश-वाहन चूहा, शिववाहन नन्दी और भगवतीका वाहन सिंह अपनी हिंसावृत्ति और द्वेष एवं भय भुलाकर शिव-परिवारके अङ्ग हैं । अग्निके पाँच प्रकार हैं—द्युलोक, पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री । पञ्चदेव हैं—विष्णु, शिव, देवी, सूर्य और गणेश । पञ्च महाभूत हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश । तन्मात्राएँ भी पाँच ही हैं—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श । कोश पाँच हैं—अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द । ये ही भगवान्के पाँच मुख हैं । भगवान् पञ्चाननके पाँच मुख पाँच चक्रोंके प्रतीक भी बताये जाते हैं। आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, आत्मानुभव, आत्मलाभ और आत्मकल्याणकी प्रेरणा प्रत्येक मुखसे प्राप्त होती है ।

भगवान्की आठ मूर्तियाँ हैं—जल, अग्नि, याज्ञिक, सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, भीम, वायु । यह भगवान्के विराट् रूपका दर्शन है । शिवपुराणमें शर्व, भव, रुद्र, उग्र, भीम, पशुपति, ईशान और महादेव—अष्टमूर्ति माने गये हैं । दार्शनिक दृष्टिसे पञ्चतन्मात्राएँ और अव्यक्त, महत् एवं अहंकार ही भगवान्की अष्टमूर्ति हैं । भगवान् शिवकी एकादश मूर्ति भी मानी जाती है जिनके नाम पहले दिये गये हैं । एक स्थूल मूर्तिके दोनों ओर पाँच-पाँच पतली मूर्तियोंका निर्माण किया जाता है । स्थूल मूर्ति है, आत्मा और दोनों ओरकी मूर्तियाँ दस प्राणोंकी प्रतीक हैं । शरीरसे निकलते समय सम्बन्धियोंको रुलानेके कारण इन्हें 'रुद्र' कहा जाता है ।

शिवका वाहन वृषभ है । धर्मशास्त्रोंमें धर्मका नाम वृषभ है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—उसके चार पैर हैं । आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक शूल व्यक्तिको निरन्तर कष्ट देते हैं । भगवान्का त्रिशूल इन तीनोंके शमन और सत्त्व, रज एवं तम—त्रिगुणोंसे परे—त्रिगुणातीत होनेका संकेत देता है । तीनों गुण प्रकृति-राज्यके हैं । इन तीनोंको पारकर ही पुरुष अपने स्वरूपको प्राप्त कर सकता है ।

भगवान् शिव 'व्योमकेश' भी कहलाते हैं । आकाश उनकी जटा है । वे तीन नेत्रवाले हैं । सूर्य, चन्द्र और अग्नि ही भगवान्के तीनों नेत्र हैं । सूर्य बुद्धिके अधिष्ठाता हैं । अन्य साधनोंसे कामकी चिन्त्यमान और भुज्यमान दशाओंका निरोध किया जा सकता है, किंतु संस्कार-दशाका निरोध ज्ञाननेत्रसे ही सम्भव है । यही शिवका मदन-दहन है ।

उनमें उग्रता भी है, किंतु जटाओंमें बहनेवाली गङ्गा (शान्ति) उन्हें संतुलन प्रदान करती है । वेदमें चन्द्रमाको 'सोम' भी कहा गया है । सोम वनस्पतियोंका प्रतीक है । और शतपथब्राह्मण (९ । ३ । ८)के अनुसार भगवान्का 'पशुपति' नाम ओषधिसूचक है । चन्द्रमा मनका प्रतीक भी माना जाता है । कुण्डलिनी-शक्तिके जागरणसे उत्पन्न होनेवाला दाह ही समुद्र-मन्थनसे निकला विष है, जिसकी शान्तिके लिये योगीश्वर शिव चन्द्रमा एवं गङ्गाको धारण करते हैं ।

भगवान् शिवके धनुषका नाम 'पिनाक' है । श्रीवासुदेव-शरण अग्रवालके अनुसार पिनाक 'मेरु-दण्ड'को कहा जाता है । इसकी दो कोटियाँ हैं । पहली कोटि है—मूलाधार चक्रमें, कुण्डलिनी है—प्रत्यञ्चा । भगवान् इस प्रत्यञ्चाको आज्ञाचक्ररूपी दूसरी कोटिपर चढ़ा देते हैं, इसीलिये वे 'पिनाक-पाणि' हैं ।

भगवान्के शरीरपर लगी भस्म शरीरकी अनित्यताका स्मरण कराती है । उनके गलेमें पड़ी मुण्डमाला यह स्मरण कराती है कि वे कालके स्वामी हैं । इसीलिये उन्हें मृत्युंजय कहा जाता है । आगम-शास्त्रके समस्त अक्षर ही भगवान्की मुण्डमाला है । उनके चारों हाथोंमें मृग, परशु, वर और अभय हैं । शतपथब्राह्मण (१ । १ । ४) के अनुसार मृग ब्रह्मका प्रतीक है । मृग यज्ञ एवं वेदके रक्षकका प्रतीक भी है । इसीलिये वह भगवान्के हाथमें है । मृगवाले हाथमें काम, परशुवाले हाथमें शत्रुनाश और दिग्विजय, वरवाले हाथमें धर्म और अभयवाले हाथमें मोक्ष है । भगवद्-उपासनासे ही चारोंकी उपलब्धि होती है ।

मूल सृष्टि जलसे ही हुई है । भगवान्के सिरपर स्थित गङ्गा इसी सत्यकी ओर संकेत कर रही है । सर्पको 'अहि' भी कहते हैं । निघण्टु (१ । १०)के अनुसार 'अहि' मेघका नाम भी है । रुद्रको वेदमें 'विद्युत्' कहा गया है । विद्युत्का भूषण मेघ ही है । निघण्टु (१ । १२)के अनुसार विष-शब्द जलका पर्याय है । इस विष अर्थात् जलका

धारण करनेवाले अहि अर्थात् मेघ भगवान् शिवके स्वरूपके अलंकार हैं।

सुषुम्णा ही पार्वती हैं। मेरुदण्ड है—हिमवान्। सुषुम्णा और कूर्मके मिलनसे कुण्डलिनी-शक्तिका जागरण होता है। यही कुमार-जन्म है। तारकासुर है—दुष्प्रवृत्तियाँ, जिनका वध इस शक्तिके द्वारा योगी करता है। तुलसीदासने पार्वतीको 'श्रद्धा' और शिवको 'विश्वास' माना है। पार्वतीको 'शक्ति' और शिवको 'धर्म' भी माना जाता है। शिवको धनात्मक आवेश और शक्तिको ऋणात्मक आवेश भी कहा गया है। शिव-तत्त्वसे ही लोभ, व्यामोह और अहंकारकी तीन पुरियोंका—त्रिपुरका विनाश होता है। वायुपुराण (६६। १०९-१६) के अनुसार शिव, ब्रह्मा और विष्णुको भिन्न मानना मूर्खतापूर्ण है। वायुपुराण (६१। २। ६) एवं ब्रह्मपुराण (१२०। ८) के अनुसार तीनों देव एक ही हैं।

सिन्धु-सभ्यताके उत्खननोंसे प्रमाणित होता है कि उस समय शिव-पूजाका प्रचलन था। सिन्धु-सभ्यता ५-६ हजार वर्ष पुरानी बतायी जाती है। इससे शिव-पूजाकी प्राचीनता स्वयं प्रमाणित होती है। लाहौर म्यूजियमके सूची-प्लेट १५ एवं ४३ और प्लेट २८ एवं ८ से पार्थियन राजा गोंडाकर निस एवं सूची-प्लेट १७ एवं ६५ से कुषाणवंशीय वीम बुड काइसीस और कनिष्कके शैव होनेका प्रमाण मिलता है। कुषाण राजा वासुदेवके सिक्कोंपर भी शिव और नन्दीके चित्र द्रष्टव्य हैं। नागवंशीय शासक भी शैव थे। यद्यपि गुप्तवंशीय सम्राट् वैष्णव थे, किंतु शिवमें उनकी आस्था थी, जिसकी सत्यता राजा कुमारगुप्तद्वारा निर्मित शिवलिङ्ग (लखनऊ म्यूजियम)से प्रमाणित होती है। एलौरा, एलीफण्टाकी शिवमूर्तियाँ अद्वितीय हैं। हूणनरेश मिहिर-कुलके सिक्कोंपर नन्दीका चित्र है। मौखरिनरेश तो अपने नामके साथ ही 'परममाहेश्वर' शब्दका प्रयोग करते थे। वलभी-नरेशोंमें शिव-उपासनाका प्रचलन था।

शिव-लिङ्गको अश्लील बताना भयंकर भ्रम है। 'लिङ्ग' शब्दका अर्थ है—चिह्न। शिवलिङ्ग निष्कल, निष्क्रिय, अद्वय, अजन्मा, अविकारी, निर्गुण-निराकार ईश्वर-तत्त्वका बोधक है। उसका कोई आकार नहीं, अपितु वह निराकारिताका वाचक है। शिवपुराणके अनुसार लिङ्गका सूक्ष्म रूप ओंकार और स्थूल रूप ब्रह्माण्ड है। स्वामी विवेकानन्दके शब्दोंमें 'यज्ञाग्निकी ज्वाला, उससे उठनेवाला धुआँ, अपनी पीठपर सोमवल्ली ग्रहण करनेवाला वृषभ, वैदिक यज्ञको सम्पन्न करनेके लिये समिधाएँ, उनके जलनेसे बचनेवाली भस्म, इससे शिवका लोहित वर्ण, जटाजूट, नीलकण्ठ, शरीरके समस्त अङ्गोंपर धारण की हुई भस्म, वृषभारोहण आदि मान्यताएँ प्रचलित हुईं।'

रूसी विद्वान् निकोलस रोरिकने भगवान् शिवके गुणोंपर मुग्ध होकर लिखा है—

'इस सृष्टिसे हमें सदा भगवान् शिवके त्यागमय कार्योंकी याद आती रहेगी कि उन्होंने किस प्रकार जगत्‌के रक्षणके लिये स्वयं विष पिया और अब भी हम जब नीलकण्ठ नामका स्मरण करते हैं, हमें उनके उस महान् वीरतापूर्ण कार्यकी स्मृति हो जाती है, जो सृष्टिके आरम्भमें हुआ था और जिसे सुनकर मानव-हृदय उत्साह एवं श्रद्धासे ओत-प्रोत हो जाता है।'

कार्य-कारण, योग-विधान, दुःखान्त—इन सबका मूल शिव ही हैं। शिव योग-विद्याके प्रवर्तक, ज्ञान, भक्ति, मुक्तिके प्रदाता, सत्य, सुन्दर एवं मृत्युंजय हैं। सृष्टिके आविर्भावके मूलमें काम-कलासे भी शिव सम्बन्धित हैं। नादसे भी शिव सम्बन्धित हैं, जिससे विश्वमें उत्पन्न समस्त वस्तुओंके नामकरणकी कल्पना की जाती है। उपनिषदोंमें उन्हें 'ईश्वर' कहा गया है। ऋग्वेद और अथर्ववेदमें शिवको मङ्गलका प्रतीक माना गया है।

फ्रांसीसी मनीषी रोमां रोलाने शिव-तत्त्वका रहस्य स्पष्ट करते हुए कहा है—

'शिव अचिन्त्य, अनिर्वचनीय, अनधिगम्य परब्रह्मके स्वरूप हैं, जो केवल ज्ञानगम्य हैं। साथ ही वे हमारी कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले ईश्वर भी हैं। वे रचयिता हैं और ऐसे आत्मीयसे भी आत्मीय हैं, जिनके चरण-कमलोंमें हम सिर झुका सकते हैं, जिनके पास हम आत्मनिवेदन कर सकते हैं और जो हमारे सुख-दुःखमें सहायक होते हैं। पशुपति शिव हमारे-जैसे पशुओंको बन्धनोंसे मुक्ति दिलाते हैं। नटराज शिव अपने नृत्य-विलाससे विश्व-ब्रह्माण्डको स्पन्दित करते हैं। यह यहाँतक ही सीमित नहीं है, यह नृत्य तो हमारे श्वास-प्रश्वासमें प्रतिक्षण चल रहा है।'

श्वेताश्वतर उपनिषद् (३। ११) ने भगवान्‌के विराट् रूपका वर्णन इस प्रकार किया है—

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः॥

'भगवान् शिवके मुख, सिर और ग्रीवाएँ सभी ओर हैं। वे सब प्राणियोंके हृदयमें रहते हैं। वे सर्वान्तर्यामी और विश्वका हित करनेवाले हैं।'

'मानस' एवं मानसकारका अभिनन्दन !

चातक भाव अनन्य एक रति गति पहिचानी ।
हटकि देवधुनि बारि टेक स्वाती पै ठानी ॥
गज्ज तज्ज घनस्याम सहै सब पंख फुलाये ।
अनुपम साहस बिसद प्रेमपन सिद्धि दिखाये ॥
कबि कोकिल पूरब हते त्रेता जे हरिबंसहित ।
हरिनाम-स्वाति कलि माँहि तेइ तुलसिदास चातक उदित ॥

—हितहरिवंशजी

*　　*　　*

श्रीमत्तुलसीदास स्वगुरु-भ्राता पद बंदे ।
सेष सनातन बिपुल ज्ञान जिन पाइ अनंदे ॥
रामचरित जिन कीन्ह तापत्रय कलिमलहारी ।
करि पोथी पर सही आदरेउ आप पुरारी ॥
राखी जिनकी टेक मदनमोहन धनु-धारी ।
बालमीकि अवतार कहत जेहि संत प्रचारी ॥
'नन्ददास'के हृदय-नयन को खोलेउ सोई ।
उज्ज्वल रस टपकाय दियो जानत सब कोई ॥

—कविवर नन्ददासजी

*　　*　　*

यह खानि चतुष्फल की सुखदानि अनूपम आनि हिये हुलसी ।
पुनि संतन के मन-भृंगन को अति मंजुल माल लसी तुलसी ॥
अस मानुप के तरिबे कहँ 'तोष' भई भवसागर के पुल-सी ।
सब कामन-दायक कामदुहा-सम रामकथा बरनी तुलसी ॥

—कविवर तोष

*　　*　　*

सुरतरु-लतान चारि फल है फलित किधौं कामधेनु धारा सम नेह उपजावनी ।
किधौं चिंतामनिन की माल उर सोभित बिसाल कंठ में धरे हैं ज्योति झलकावनी ॥
प्रभु की कहानी ते गोसाईं की मधुरी बानी मुक्तसुखदानी 'रसखानि' मन भावनी ।
खाँड की खिजावनी-सी, कंद की कुढ़ावनी-सी, सिता को सतावनी-सी, सुधा सकुचावनी ॥

—रसखान

वेदमत सोधि, सोधि-सोधि कै पुरान सबै
संत औ असंतन को भेद को बतावतो।
कपटी, कुराही, कूर कलि के कुचाली जीव
कौन रामनामहू की चरचा चलावतो ॥
'बेनी' कवि कहै मानो-मानो हो प्रतीति यह
पाहन-हिये में कौन प्रेम उपजावतो।
भारी भव सागर उतारतो कवन पार
जो पै यह रामायन तुलसी न गावतो॥

—बेनी कवि

* * *

बोयो बिधि बीज रघुनाथ-जस-कामतरु, कुंभज-बसिष्ठ साखा-पल्लव लगायो है।
ब्यास, सुकदेव आदि किसलै-कुसुम कीन्हे, बाल्मीकि सुफल अमल दरसायो है॥
माधव धुरीनाचार्य, रामानुजाचार्य आदि बीनि-बीनि फल ग्रन्थ-पथ में धरायो है।
'रघुराज' तुलसी सनेह सों परोसे पानि सीतापति सेवक निवत ऋषि आयो है॥

—रीवाँनरेश राजर्षि श्रीरघुराजसिंहजू देव

* * *

सुरसरि पावन सुहावन सलिल धारा कमनीय कल्पना कलित कलसी की है।
रंजिनी कलाकर अलौकिक कला समान, व्यंजना बिभावरी बिपुल बिलसी की है॥
सुरुचि मयूरी की प्रमोदिनी घटा है मंजु कौमुदी कुमोदिनी सुमति हुलसी की है।
बुध वृन्द विपुल विकच अरबिन्द हेतु सविता-सी कविता कविंद तुलसी की है॥

बन राम रसायन की रसिका रसना रसिकों की हुई सफला।
अवगाहन मानस में करके जन-मानस का मल सारा टला॥
बने पावन भाव की भूमि भलीं हुआ भावुक भावुकता का भला।
कविता करके तुलसी न लसे कविता लसी या तुलसी की कला॥

—अयोध्याप्रसादसिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

* * *

सियारामकी मंजु महा महिमाका
अलौकिक ही जिसमें रस है।
जहाँ प्रेमसे पीन हो मीन-सा है
रमा संत-समाजका मानस है॥

सित कंज-सा कुन्द-सा सोह रहा
जहाँ जानकीजीवनका यश है।
वह मानस यह, जहाँ पापका तापका
नेक नहीं चलता वश है॥
यहाँ नौ रस हैं, रस एक वहाँ,
यह बानी है संतकी, पानी नहीं।
मल धोया करे कहीं भी तनका,
मनका मल तो धुलता है यहीं॥
इस रामचरित्रके मानसकी
उस मानससे तुलना है कहीं।
वहाँ डूबता जो मर जाता, यहाँ—
पर डूबता जो तर जाता वही॥
विषयोंके विषैले भुजंगमोंका
चलता यहाँ नेक प्रभाव न है।
यह जीवन-मूरि सँजीवन है,
विधिका दिया दिव्य उपायन है॥
भव-आधि-विआधिसे छूटनेको
इसके सम कोई उपाय न है।
इस मानसका करे सेवन तू,
इसमें अरे ! राम-रसायन है॥

—रामनारायणदत्त 'राम'

* * *

सरि जात संचित, असंचित बिसरि जात, करि जात भोग, भव-बंधन कतरि जात।
तरि जात काम-सरि, बरि जात कोप-करि, कर्म कलिकाल, तीनि कंटक भभरि जात॥
भरि जात भाग्य भाल 'किंकर गोबिंद' त्यों ही, ज्यों ही तुलसीकी कविताईपर नजरि जात।
जरि जात दंभ, रोष-दूषण दररि जात, दुरि जात दारिद, दुकालहू निसरि जात॥

भक्तिकी प्रसूतिका है, युक्तिहूकी दूतिका है, भवकी विभूतिका है, सुद्ध उक्तिका है जू।
सची-रंभा-मेनका है, हिमवंत-कन्यका है, कामधेनुका है, कैधों मातु रेणुका है जू॥
अमी-मूरिका है, मोह-तम-दूरिका है, हरि-पद-धूरिका है, कैधों कामपूरिका है जू।
सुर-सरिता है कै, विसुद्ध चरिता है कैधों, 'किंकर गोबिंद' तुलसीकी कविता है जू॥

—किंकर गोविन्द

'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क—'श्रीहनुमान-अङ्क'

[सम्मान्य लेखक महानुभावोंसे सादर प्रार्थना]

'कल्याण', फरवरी, १९७४ के टाइटिलके अन्तिम पृष्ठपर प्रकाशित निवेदनसे सम्मान्य पाठक-पाठिकाओं, महात्माओं, विद्वानों एवं विचारकोंको यह ज्ञात हुआ ही होगा कि जनवरी १९७५के विशेषाङ्कके रूपमें 'श्री-हनुमान-अङ्क'के प्रकाशनका निश्चय हुआ है। सबसे हमारी विनम्र प्रार्थना है कि वे सदाकी भाँति अपना आशीर्वाद, सद्भाव एवं अमूल्य सहयोग हमें प्रदान करें, जिससे भक्तराज श्रीहनुमानकी यह अर्चना सर्वाङ्गपूर्ण बन सके।

विशेषाङ्कमें कौन-कौनसे विषय रहेंगे, इसका दिग्दर्शन करानेके लिये एक संक्षिप्त विषय-सूची नीचे दी जा रही है। सम्मान्य लेखक महानुभाव चाहें तो विषय-सूचीके अतिरिक्त श्रीहनुमान-सम्बन्धी किसी अन्य विषयपर भी रचना भेज सकते हैं। रचना स्पष्ट, सुवाच्य, संक्षिप्त (लगभग ५ पृष्ठोंकी) एवं विषयसे सम्बद्ध होनी चाहिये। रचना हिंदी, संस्कृत, बँगला, मराठी, गुजराती अथवा अंग्रेजी—किसी भी भाषामें प्रस्तुत की जा सकती है।

सैकड़ों रचनाओंको पढ़ने, उनमेंसे उपादेय सामग्रीको छाँटने, सजाने, चित्र तैयार करवाने तथा लगभग पौने दो लाख प्रतियाँ मुद्रित करनेमें छः-सात मासका समय अपेक्षित होता है। अतएव सम्मान्य लेखक महानुभावोंसे विनीत प्रार्थना है कि वे अपनी बहुमूल्य रचनाएँ अधिक-से-अधिक जूनके अन्ततक अवश्य भेज दें, जिससे अङ्क समयपर तैयार हो सके। विलम्बसे आनेवाली रचनाओंको उचित स्थानपर सजाने अथवा उन्हें स्वीकार करनेमें कठिनाई होगी।

बड़ी ही विनम्रताके साथ यह निवेदन है कि रचना भेजनेकी कृपा वे ही महानुभाव करें, जिनका विषयपर अधिकार हो, जो लेखन-कलासे परिचित हों तथा जो अपने भावोंको सुचारुरूपसे व्यक्त कर सकें। आशा है, सम्मान्य लेखक महानुभाव कृपा एवं प्रीतिपूर्वक सदाकी भाँति अपना उदार सहयोग हमें प्रदान करेंगे।—सम्पादक

प्रस्तावित विषय-सूची

१–भगवद्भक्तिका स्वरूप एवं माहात्म्य
२–भक्तिमें दास्यभावका स्थान एवं महत्त्व
३–भगवान्‌के दास्यभक्त एवं उनमें श्रीहनुमानका स्थान
४–श्रीहनुमानका चरित –दास्य-भक्तिकी व्याख्या
५–भगवद्भक्तका अलौकिक माहात्म्य
६–भक्त एवं भगवान्‌का सम्बन्ध
७–श्रीहनुमान—भगवदनुग्रहके प्रतीक
८–भक्तको भगवान्‌से मिलानेवाले श्रीहनुमान
९–भगवान् श्रीरामके नित्य परिकर एवं उनमें श्रीहनुमानका स्थान
१०–नित्य साकेतमें श्रीहनुमानका स्वरूप एवं उनकी सेवा
११–श्रीहनुमानका भक्त रूप
१२–भक्तोंके परमादर्श श्रीहनुमान
१३–श्रीहनुमानका देवरूप
१४–रुद्रावतार श्रीहनुमान
१५–भगवान् श्रीशंकर और हनुमान
१६–भगवान् श्रीकृष्ण और हनुमान
१७–श्रीराम-पञ्चायतनमें श्रीहनुमान
१८–पञ्चदेव और श्रीहनुमान
१९–श्रीहनुमत्तत्त्व
२०–श्रीहनुमान और हनुमदीश्वर
२१–चिरजीवी श्रीहनुमान
२२–भगवती सीताके भक्त श्रीहनुमान
२३–सीताराम-गुणग्राम-पुण्यारण्य-विहारी श्रीहनुमान

२४–श्रीरामहृदय हनुमान
२५–श्रीरामदूत हनुमान
२६–श्रीरामसेवक हनुमान
२७–श्रीरामभक्तिके प्रवर्तक हनुमान
२८–श्रीराम-नाम-कीर्तनासक्त हनुमान
२९–श्रीराम-कथानुरागी हनुमान
३०–श्रीराम-कथा-गायक हनुमान
३१–'रामकाज करिबे को आतुर'
३२–'भानुकुल-भानु-कीरति-पताका'
३३–'जासु गुनगाथ रघुनाथ कह'
३४–धर्मार्थकामापवर्गद श्रीहनुमान
३५–अघटित-घटन श्रीहनुमान
३६–भक्त-संताप-चिंतापहर्ता श्रीहनुमान
३७–'राम के गुलामनि को कामतरु'
३८–मङ्गलमूर्ति श्रीहनुमान
३९–गति, मति, शक्ति एवं भगवद्भक्तिके प्रतीक श्रीहनुमान
४०–ज्ञानिनामग्रगण्य श्रीहनुमान
४१–सर्वगुण-सम्पन्न श्रीहनुमान
४२–आशुतोष श्रीहनुमान
४३–ब्रह्मचारी श्रीहनुमान
४४–श्रीहनुमान और सदाचार
४५–श्रीहनुमान और सेवाधर्म
४६–धर्ममूर्ति एवं धर्मरक्षक श्रीहनुमान
४७–आसुरी वृत्ति-प्रवृत्तिके विध्वंसक श्रीहनुमान
४८–'अष्ट सिद्धि नव निधि के दाता'
४९–संकटमोचन श्रीहनुमान
५०–आदर्श सखा एवं आदर्श मन्त्री श्रीहनुमान
५१–संगीताचार्य श्रीहनुमान
५२–आयुर्वेद-शास्त्र और श्रीहनुमान
५३–श्रीहनुमानका राजनीतिक चातुर्य
५४–शौर्य एवं पराक्रमके प्रतीक श्रीहनुमान
५५–सम्भाषण-कला-निपुण श्रीहनुमान
५६–श्रीहनुमानका युद्ध-कौशल
५७–भगवान् श्रीरामके विभिन्न भावोंके भक्त तथा उनमें श्रीहनुमानका स्थान
५८–श्रीभरत एवं श्रीहनुमान
५९–श्रीलक्ष्मण एवं श्रीहनुमान
६०–श्रीशत्रुघ्न एवं श्रीहनुमान
६१–श्रीलव-कुश एवं श्रीहनुमान
६२–श्रीसुग्रीव एवं श्रीहनुमान
६३–श्रीअङ्गद एवं श्रीहनुमान
६४–श्रीविभीषण एवं श्रीहनुमान
६५–वानरोंका स्वरूप, शक्ति, सामर्थ्य आदि
६६–वानर-जातिकी परम्परा, संस्कृति, वेष-भूषा, शिक्षा-दीक्षा, रीति-नीति आदि
६७–वानर-ऋक्ष-सिरमौर श्रीहनुमान
६८–'श्रीहनुमान'-नामकी व्युत्पत्ति एवं रहस्य
६९–श्रीहनुमानके विविध नाम और उनका विवेचन
७०–'संकर-सुवन', 'पवन-सुत', 'अंजनी-पुत्र' और 'केसरी-नन्दन' नामोंका रहस्य एवं सार्थक्य
७१–श्रीहनुमानका रूप-सौन्दर्य
७२–श्रीहनुमानके वस्त्र, आभूषण, शृङ्गार आदि
७३–श्रीहनुमानके आयुध और उनका रहस्य
७४–श्रीहनुमच्चरित (विभिन्न शास्त्रों एवं संतोंके अनुभवके आधारपर)
७५–श्रीहनुमज्जयन्ती-महोत्सव
७६–गोवर्धन गिरि और श्रीहनुमान
७७–धनंजय-रथ-त्राण-केतु श्रीहनुमान
७८–वैदिक साहित्यमें श्रीहनुमान
७९–उपनिषदोंमें श्रीहनुमान
८०–आगमोंमें श्रीहनुमान
८१–तन्त्रोंमें श्रीहनुमान
८२–पुराणोंमें श्रीहनुमान
८३–योग-शास्त्रमें श्रीहनुमान
८४–विभिन्न रामायणोंमें श्रीहनुमान
८५–महाभारतमें श्रीहनुमान
८६–संगीत-नृत्य-शास्त्रमें श्रीहनुमान
८७–मन्त्र-शास्त्रमें श्रीहनुमान
८८–ज्यौतिष-शास्त्रमें श्रीहनुमान
८९–चित्रकलामें श्रीहनुमान
९०–स्थापत्य एवं मूर्तिकलामें श्रीहनुमान
९१–अपभ्रंश, प्राकृत एवं पाली भाषाके साहित्यमें श्रीहनुमान
९२–संस्कृत काव्यों और नाटकोंमें श्रीहनुमान
९३–हिंदी-साहित्यमें श्रीहनुमान

९४-विभिन्न प्रादेशिक भाषाओंके साहित्यमें श्रीहनुमान
९५-लोकगीत एवं लोकाचारमें श्रीहनुमान
९६-जैन-रामकथामें श्रीहनुमान
९७-बौद्ध-रामकथामें श्रीहनुमान
९८-नाथ-पंथमें श्रीहनुमान
९९-भारतके विभिन्न सम्प्रदायोंमें श्रीहनुमान
१००-वाल्मीकिके श्रीहनुमान
१०१-तुलसीके श्रीहनुमान
१०२-समर्थ रामदासकी श्रीहनुमान-भक्ति
१०३-सूरदासके श्रीहनुमान
१०४-गुरुगोविन्दसिंहकी श्रीहनुमान-भक्ति
१०५-विभिन्न रामभक्त कवियोंकी रचनाओंमें श्रीहनुमान
१०६-भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें श्रीहनुमान-उपासना
१०७-बृहत्तर भारतमें श्रीहनुमान-उपासना
१०८-विदेशोंमें श्रीहनुमान-उपासना
१०९-पाश्चात्योंद्वारा श्रीहनुमानका स्मरण
११०-श्रीहनुमानके विभिन्न क्षेत्र, तीर्थ, मन्दिर आदि
१११-श्रीहनुमान-प्रतिमा-निर्माण-विधि एवं प्राण-प्रतिष्ठा-पद्धति
११२-श्रीहनुमान-मन्दिर, पीठिका आदिका स्वरूप एवं निर्माण-विधि
११३-श्रीहनुमानके विभिन्न रूपोंका ध्यान एवं प्रयोजन
११४-श्रीहनुमान-सम्बन्धी सिद्ध स्तोत्र, पटल, कवच आदि
११५-श्रीमारुति-गायत्री
११६-श्रीहनुमानके विभिन्न मन्त्र एवं उनकी अनुष्ठान-विधि
११७-श्रीहनुमान-पूजन-यन्त्र
११८-श्रीहनुमान-पूजनके आवश्यक द्रव्य
११९-श्रीहनुमान-सम्बन्धी पर्व, व्रत, महोत्सव आदि
१२०-पञ्चमुखी श्रीहनुमानका स्वरूप एवं उपासना
१२१-श्रीहनुमत्कृपा एवं दर्शन-प्राप्तिके लिये उपासना
१२२-विभिन्न कामनाओंकी सिद्धिके लिये श्रीहनुमान-उपासना
१२३-श्रीरामार्चा-पद्धति और हनुमान
१२४-श्रीहनुमान-उपासनाके अनुभव
१२५-श्रीहनुमान-उपासकका स्वरूप, व्रत, आचार, विचार, व्यवहार आदि
१२६-श्रीहनुमानके प्राचीन एवं अर्वाचीन भक्त
१२७-श्रीहनुमत्सहस्रनाम
१२८-श्रीहनुमान-सम्बन्धी मुद्रित-अमुद्रित साहित्य* (देश-विदेशकी विभिन्न भाषाओंमें)
१२९-भारतीय मानस एवं जीवनपर श्रीहनुमानका प्रभाव
१३०-भारतकी भावात्मक एकताके परिपोषणमें श्रीहनुमान-उपासनाका योगदान
१३१-वर्तमानकालमें श्रीहनुमान-उपासनाकी आवश्यकता

श्रीरघुनाथजीके चरण

(रचयिता—श्रीप्रयागनारायणजी त्रिवेदी)

मञ्जुल मराल हैं महेश-मन-मानस के,
जन्मदाता जाह्नवी के, पङ्कज-चरण हैं।
गौतम-वधू के शाप-मोचन, त्रिलोचन-
विलोचन-विषय, त्रय-ताप के हरण हैं॥
अधम-उधारण हैं, दिव्य द्युति-धारण हैं,
भक्त-आभरण, जग-तारण-तरण हैं।
आनन्द-करण, दुःख-दारिद-हरण,
अशरण के शरण रघुनाथ के चरण हैं॥

* ग्रन्थोंका परिचय देवनागरी लिपिमें इस प्रकार रहना चाहिये—
(क) ग्रन्थका नाम, (ख) रचयिता या सम्पादकका नाम, (ग) प्रकाशकका नाम, (घ) पृष्ठ-संख्या आदि।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

प्रशंसाके प्रति वितृष्णा

सन् १९३१ की बात है। संत विनोवाभावे आश्रमकी डाक देख रहे थे। वे एक-एक पत्रको पढ़कर विषयके अनुसार उन्हें पृथक्-पृथक् रखते जाते थे। उनके समीप बैठे थे प्रसिद्ध देशभक्त श्रीजमनालालजी बजाजके सुपुत्र श्रीकमलनयन बजाज। अवस्था छोटी ही थी। वे कौतूहलके साथ पत्रोंकी बनावट, उनपर लिखे गये पतेकी लिखावट आदिको देख रहे थे। अचानक श्रीविनोवाजीने एक लिफाफा उठाया, जिसकी बनावट तथा उसपर लिखे गये पतेके अक्षरोंसे स्पष्ट समझा जा सकता था कि वह पत्र महात्मा गांधीका था। उस समयतक महात्मा गांधीके प्रति देशमें बड़ी ही आदर-बुद्धिकी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। लोग उनके हस्ताक्षरोंको प्राप्त करनेके लिये व्यग्र एवं प्रयत्नशील रहते थे। इसके अतिरिक्त महात्माजीके पत्र बड़े ही महत्त्वपूर्ण एवं शिक्षाप्रद होनेके कारण लोग उनका संग्रह करने लगे थे। श्रीकमलनयन बजाजको तो बाल्यकालसे ही बापूका प्यार प्राप्त हुआ था। अतः बापूके पत्रोंके प्रति उनके मनमें विशेष अभिरुचि होनी स्वाभाविक थी। वे उस पत्रको बड़े गौरसे देखने लगे।

श्रीविनोवाजीने पत्र खोला, उसे आद्योपान्त पढ़ा। उनके चेहरेपर वितृष्णा-जनित उद्विग्नताकी रेखाएँ उभर आयीं और उन्होंने पत्रको फाड़कर रद्दीकी टोकरीमें फेंक दिया। श्रीकमलनयन यह सब बड़े ध्यानसे देख रहे थे। बापूके पत्रको इस प्रकार अरुचि-सूचक मुद्रामें पढ़ना और पढ़नेके पश्चात् उसे फाड़कर रद्दीकी टोकरीमें फेंक देना—बापूके प्रति गहरी श्रद्धा और प्यार रखनेवाले श्रीविनोवाजीद्वारा यह सब होते देख उन्हें बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उन्होंने लपककर रद्दीकी टोकरीमेंसे पत्रके फटे हुए टुकड़े उठा लिये। पत्र अधिक फटा हुआ नहीं था; अतएव उसे जोड़कर पढ़नेमें विशेष असुविधा नहीं हुई। पत्रमें लिखा था—'तुम्हारे-जैसी किसी दूसरी महान् आत्मासे मेरा सम्पर्क आजतक नहीं हुआ।'

श्रीविनोवाजीके प्रति बापूके इतने सुन्दर उद्गार! फिर क्या हेतु था जो उन्होंने बापूके पत्रको फाड़ दिया। युवक श्रीकमलनयनने श्रीविनोवाजीसे पूछ ही तो लिया—'आपने बापूका पत्र क्यों फाड़ा?'

श्रीविनोवाजीने सहज भावसे उत्तर दिया—'अपने गुरुजनसे भी स्नेह या गफलतके कारण कुछ भूल हो सकती है। श्रद्धालुओंको चाहिये कि वे उस भूलको महत्त्व न दें।'

'बापूने इस पत्रमें कोई भूल की है—यह आप कैसे मानते हैं?'—श्रीकमलनयनने पुनः पूछा।

श्रीविनोवाजीने कहा—'बापूसे लाखों लोग मिले हैं—एक-से-एक महान् विभूतियाँ और एक-से-एक महान् आत्माएँ। दो ही बातें हैं—या तो बापू उन महान् विभूतियोंको नहीं पहचान सके अथवा पत्र लिखते समय उनके बड़प्पनकी विस्मृति उन्हें हो गयी। यही हेतु है कि उन्होंने मेरे सम्बन्धमें ऐसे बड़प्पनके शब्द लिख दिये। मैं यह ठीक समझता हूँ कि उन्होंने स्नेह या मोहके कारण ही ऐसी अतिशयोक्तिपूर्ण बात लिख दी है। इस प्रकार लिखनेसे उन महान् विभूतियोंकी महानता तो कम नहीं हुई, किंतु बापूद्वारा उनकी महानताका आदर न होनेकी भूल तो हो ही गयी। हम श्रद्धालुओंको बापूकी इस भूलको क्यों सहेजकर रखना चाहिये।'

श्रीकमलनयनने पुनः तर्क किया—'बापूद्वारा भूल नहीं हो सकती। वे एक-एक शब्द सोच-समझकर लिखते हैं। सचमुच उन्हें आप-जैसी महान् आत्मा और न मिली हो।'

श्रीविनोवाजीने विनम्रताभरे शब्दोंमें कहा—'अच्छा, मान लेते हैं कि बापूने सोच-समझकर ही लिखा है। हो सकता है, यह सच भी हो। परंतु उससे मुझे क्या लाभ! उससे यदि कुछ हो सकता भी है तो अहंकार ही पैदा होगा।'

श्रीकमलनयनमें युवावस्थाका जोश उभर आया। वे आवेशके स्वरमें बोल उठे—'बापू-जैसे महापुरुषकी लिखी हुई चीज, भले ही वह आपके ही बारेमें क्यों न हो, केवल आपके लिये नहीं दुनियाके लिये है। उसे फाड़नेका आपको कोई अधिकार नहीं।'

श्रीविनोवाजी समझ गये कि युवक श्रीकमलनयन आवेशमें है। उन्होंने बड़े ही शान्तभावसे उन्हें समझाया—'बापूने जो कुछ मेरे सम्बन्धमें लिखा है, उसमें महत्त्वकी

वस्तु है—उनका स्नेह, प्यार, विश्वास, वह मैंने ग्रहण कर लिया। बाकीको नष्ट कर देनेमें ही लाभ है। यदि बापूकी मान्यता सच है तो मेरे पत्र फाड़नेसे वह नष्ट नहीं हो जायगी। लेकिन यदि वह उनका मोह है तो उसे रखनेमें हानि ही होगी। इसलिये मैंने बापूका पत्र फाड़नेमें कोई जोखिम नहीं समझी और न उसे रखनेमें कोई लाभ।'

प्यारभरा समाधान पाकर श्रीकमलनयन संतुष्ट हो गये।

(२)

प्रार्थना-निष्ठा

प्रभु सर्वसमर्थ हैं, प्रभु सर्वसुहृद् हैं; उनका प्रत्येक विधान जीवमात्रके लिये अशेष मङ्गलकारी होता है—इस सिद्धान्तपर परम श्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार-की अद्भुत निष्ठा थी। वे अपने प्रवचनोंमें कहा करते थे—

"विधाता और विधान—दो नहीं हैं। अतएव विधाताके प्रत्येक विधानमें मङ्गल-ही-मङ्गल भरा है। इतना होनेपर भी जो विधान प्रतिकूल प्रतीत हो, उसके निवारणके लिये सत्प्रयत्न करनेके साथ-साथ मन-ही-मन भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान्की प्रार्थनामें अमोघ एवं अमित शक्ति है। भगवत्प्रार्थनासे कठिन-से-कठिन कार्य सहजमें सम्पन्न हो जाते हैं। परंतु भगवान् सहज सर्वज्ञ एवं सर्वसुहृद् हैं। अतः वे उसी प्रार्थनाको पूर्ण करते हैं, जिसमें हमारा परिणाममें परमहित—परममङ्गल होता है। हमारी कोई प्रार्थना पूर्ण न हो तो निश्चय समझें कि उसकी अपूर्णता ही मङ्गल-कारिणी है। किंतु प्रार्थना होनी चाहिये—सच्चे मनसे और अचल विश्वासके साथ। प्रार्थनाके लिये किसी विशेष प्रकारके शब्दोंकी आवश्यकता नहीं, भगवान् सब भाषाएँ समझते हैं। प्रार्थनामें चाहिये हृदयकी भाषा।"

बात सन् १९१८ की है। देशकी स्वतन्त्रताके लिये क्रान्तिकारी गतिविधियोंको अपनानेके कारण प्राप्त शिमलापाल (पश्चिम बंगालके बाँकुड़ा जिलेका पुलिस-स्टेशन) के अज्ञातवासको पूरा करके श्रीभाईजी मुक्त हुए थे। बंगाल-सरकारने बंगालसे उनके निष्कासनका आदेश भी जारी कर दिया था। अतएव श्रीभाईजी अपने पैतृक स्थान रतनगढ़ (बीकानेर राज्यका एक कस्बा) चले आये थे।

विधिका-विधान! अचानक वहाँ प्लेगका प्रकोप हो गया। परिवार-के-परिवार नियतिके क्रूर हास्यमें विलीन होने लगे। ऐसा प्रतीत होता था मानो प्रकृति सबको दिखा देना चाहती थी—जीवन कितना क्षणभङ्गुर है!

शिमलापालके जीवनमें भगवान्की मङ्गलमयता तथा भगवत्प्रार्थनापर श्रीभाईजीकी आस्था बहुत दृढ़ हो गयी थी। साथ ही लोकसेवाकी भावना भी परिपुष्ट हुई थी। सब रूपोंमें अपने प्रभु ही हैं; इससे प्राणिमात्रकी सेवा अध्यात्म-साधनाका ही प्रतिरूप था श्रीभाईजीके लिये। प्राणि-सेवामें भी आर्तनारायण—रोग-कष्टसे पीड़ित व्यक्तियोंकी सेवाके लिये विशेष तत्पर रहते थे वे। प्लेगके प्रकोपसे सेवाका उन्मुक्त क्षेत्र सामने था। श्रीभाईजी इस अवसरपर कब चूकनेवाले थे। वे रोगियोंकी सेवामें जुट गये। घर-घर रोगियोंकी सँभाल करना, उनके उपचारकी व्यवस्था करना तथा सबके मनोबलको बनाये रखना—यही दिन-रातका उनका कार्यक्रम था। प्लेगका रोग भीषण रूपसे संक्रामक होता है। अतएव श्रीभाईजीके कतिपय हितचिन्तकोंने उन्हें यह सलाह दी कि उन्हें कुछ समयके लिये यह स्थान छोड़ देना चाहिये; पर श्रीभाईजी सबको हँसते हुए यही उत्तर देते थे—"यदि साँस समाप्त हो गयी होगी तो कहींपर भी रहूँगा, मृत्यु निश्चित है और यदि जीवन शेष होगा तो यहाँ भी कुछ नहीं हो सकता। फिर इस समय तो मुझे प्रभुने सेवाका अवसर दिया है, इसे क्यों छोड़ूँ।" श्रीभाईजीकी निष्ठापूर्ण प्रभु-अर्चनाके रूपमें होनेवाली सेवाका अद्भुत प्रभाव भी परिलक्षित हुआ। अनेकों निराश व्यक्तियोंने स्वास्थ्य लाभ किया। एक घटना नीचे दी जा रही है—

एक अत्यन्त साधारण स्थितिका जाट-परिवार जीवनकी कटुताओंको सहते हुए वहाँ निवास कर रहा था। परिवार बड़ा था, आय कम थी। अचानक इस परिवारके सबसे बड़े नवविवाहित पुत्रपर प्लेगका प्रकोप हुआ। यथासम्भव सभी प्रकारके इलाज करवाये गये, पर दशा बिगड़ती ही चली गयी। सबसे बड़े पुत्रको अपनी आँखोंके सामने जाता देख, निःसहाय जाट रोता-कलपता श्रीभाईजीके पास पहुँचा। श्रद्धाकी गरिमा, याचनाकी सीमा, विश्वासकी गुरुताके साथ जाटने श्रीभाईजीके चरणोंपर अपना मस्तक रख दिया। उसकी करुण-गाथा सुन परदुःखकातर श्रीभाईजी सहज ही उसके साथ चल दिये दुःखमें उसका हिस्सा बँटानेके लिये।

घर पहुँचनेपर बालककी स्थिति देख श्रीभाईजीके मुख-मण्डलपर भी गम्भीर चिन्ताकी रेखाएँ उभर आयीं। चुनी हुई उत्तम-से-उत्तम ओषधि निरर्थक साबित हो रही थी। लगता था कि बालक अब कुछ ही घंटोंका मेहमान है। बाह्य चेतना प्रायः लुप्त हो चुकी थी। मुखपर किंचित् विकृति भी आ गयी थी। नवविवाहिता वधू लाज-शर्म छोड़कर सामने आयी और फटते हृदय तथा अजस्र अश्रु-धाराके साथ वह श्रीभाईजीके चरणोंपर मस्तक टेक बिलख उठी। भाषासे शून्य, भावनासे पूर्ण, वेदनाकी मूर्ति वह कुछ कह न सकी। कहनेकी आवश्यकता भी नहीं थी। श्रीभाईजी-के नेत्र भी भर आये।

परिवारके सदस्योंको समझानेका प्रयास करते हुए श्रीभाईजीने कहा—"भगवान्पर विश्वास रक्खो—उनकी कृपाका अवलम्बन लेकर बालकको गङ्गाजल देना आरम्भ कर दो। ओषधि सर्वथा बंद कर देनी चाहिये। बालकके समीप सुमधुर स्वरमें भगवन्नामका गान आरम्भ कर दो। भगवान्की कृपासे सब कुछ सम्भव है।"—इतना कहकर स्वयं श्रीभाईजी वहाँ बैठ गये। सुमधुर स्वरमें उन्होंने नामध्वनि आरम्भ कर दी। गङ्गाजल भी मँगवाया गया। श्रीभाईजीने स्वयं अपने हाथोंसे उसे गङ्गाजल दिया।

कुछ देरतक बैठनेके बाद श्रीभाईजी जाने लगे। जाते-जाते उन्होंने पुनः कहा—"भगवान्के सौहार्दपर विश्वास करके नाम-ध्वनि सुनाते रहो। बीच-बीचमें बालक जब भी पानी माँगे, उसे गङ्गाजल ही देना। भगवान्की कृपामें अद्भुत शक्ति है।"

श्रीभाईजी घर लौट आये। भगवान्की अपार कृपासे बालककी स्थिति सुधरने लगी। कुछ ही घंटों बाद बालककी चेतना लौट आयी। वह सबको पहचानने लगा। अब उसके जीवनकी आशा हो गयी। उपचारके साथ प्रार्थना चलती रही। श्रीभाईजी बराबर उसकी सँभाल करते रहे। कुछ दिनोंमें वह नीरोग हो गया।

बालक जब चलने-फिरने योग्य हो गया, तब जाट—अपने पूरे परिवारसहित श्रीभाईजीके निवासस्थानपर पहुँचा। प्रत्येकका रोम-रोम पुलकित था, प्रसन्नतामें सारे-के-सारे डूबे हुए थे। कृतज्ञताके शब्द तो उनके पास थे नहीं—आनन्दके अश्रु बहाते हुए जाटने श्रीभाईजीके चरण पकड़ लिये। उनकी प्रसन्नताको देख श्रीभाईजीका हृदय भी प्रफुल्लित था। प्यारभरे आतिथ्यके बाद श्रीभाईजीने कहा—"मुझमें कुछ भी नहीं है, यह सब तो प्रभुकी कृपा है। आपलोगोंकी प्रार्थनामें सचाई थी और प्रभु तो करुणा-वरुणालय हैं ही! उनपर निरन्तर विश्वास बढ़ाते रहिये, और मुझे भी ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि मेरे हृदयमें भी उनके प्रति प्रेम दृढ़तर, दृढ़तम होता चला जाय। मैं तो किसी योग्य ही नहीं हूँ।"

जाट-परिवार हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करके चला गया, पर परिवारका प्रत्येक सदस्य ले गया अपने साथ एक ऐसी अनुपम निधि, जिससे भवरोगका भी सहज रूपमें ही शमन किया जा सकता है—भगवत्प्रार्थनापर विश्वास। सचमुच प्रार्थना ऐसी ही चमत्कारिणी है—करुणासागर प्रभु भी विवश हो जाते हैं, उन्हें भी वह करुण पुकार सुननी ही पड़ती है।

(३)

सच्चा प्रायश्चित्त

बात पुरानी है। बादशाह सुल्तान सीमाप्रान्तका दौरा कर रहे थे। एक घाटीमें पड़ाव किया गया। बादशाह शिकारका बड़ा शौकीन था। सूर्यास्त होते ही चारों ओर अन्धकार छा गया। बादशाहने देखा—सामनेके ऊँचे टीलेपर कोई जानवर बैठा है। बादशाहने धनुष-बाण उठाया और निशाना साधकर तीर छोड़ दिया। तीक्ष्ण तीरके लगते ही एक चीखकी आवाज आयी। बादशाह दौड़कर टीले-पर पहुँचा और ज्यों ही वह लक्ष्यके नजदीक पहुँचा, वह देखकर सन्न हो गया कि बाणसे विद्ध होनेवाला जीव पशु नहीं, एक छोटा-सा लड़का था।

बच्चेकी तड़पन देखकर बादशाहको बड़ी पीड़ा हुई। उन्होंने बच्चेके पिताको खोजनेका आदेश दिया। चारों ओर सैनिक दौड़ पड़े। पिता एक खानमें काम कर रहा था। उसे लाकर बादशाहके सामने उपस्थित किया गया। पिताने अपने मासूम बच्चेको देखा। मुँहसे चीत्कार निकली और नेत्रोंसे टप्-टप् आँसू।

बादशाहने पिताको धीरज बँधाया और कहा—'बच्चेको घायल करनेका अपराध मुझसे हुआ है। जानवर समझकर मैंने तीर छोडा था, पर धोखा हुआ, तीर तुम्हारे बच्चेको लग गया।'

बादशाहने तत्काल दो थालियाँ मँगवायीं; एक अशरफीसे भरी हुई थी और दूसरीमें तलवार रक्खी हुई थी। बादशाहने पितासे कहा—'यदि तुम चाहो तो थालमें रक्खी हुई अशरफियाँ लेकर अपना जीवन चलाओ और यदि तुम मुझे माफ करना न चाहो तो दूसरी थालीमें रक्खी हुई तलवार लेकर मेरा सिर धड़से अलग कर सकते हो।'

मजदूर पिता बादशाहकी न्यायप्रियताको देखकर दंग रह गया, किंतु वह उदात्त भावनाओंका व्यक्ति था। वह बादशाहके सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और बोला—'जहाँपनाह ! मुझे दोनों ही चीजें स्वीकार नहीं हैं। आप अपनी भूलके लिये अनुताप कर रहे हैं—इससे बड़ा दण्ड और क्या हो सकता है। बस ! यह भूल जीवनमें फिर न दोहरायी जाय। केवल मनुष्य ही नहीं, जीवमात्रके प्रति आपके हृदयमें दयाभावना रहनी चाहिये।'

बादशाहने विनम्रताके साथ कहा—'तुम्हारा 'आदेश' शिरोधार्य है। सचमुच तुम दलित नहीं, महान् हो!'

(४)

रिक्शाचालककी ईमानदारी

बाड़ौदा (गुजरात) के नये बाजारमें नरेन्द्र वाघेला नामक एक क्षत्रिय युवक रहता है। परिवारकी स्थिति सामान्य होनेके कारण वह रिक्शा चलाकर आजीविका अर्जन करता था।

गतवर्षकी घटना है। एक दिन वह स्टेशनके बाहर रिक्शा लिये खड़ा था कि ट्रेनमें आनेवाला एक यात्री अपना सूटकेस लिये हुए उसके रिक्शेमें आकर सवार हो गया। वह यात्रीको लेकर बड़ौदाके प्रमुख बाजारमें पहुँचा। यात्री अपने व्यवसायके कामसे आया था। बाजारके उतार-चढ़ावसे वह बहुत चिन्तित था। बाजारमें पहुँचते ही उसने रिक्शा-चालकको किरायेके पैसे दिये और स्वयं उतरकर बाजारमें चला गया। वह अपना सूटकेस उतारना भूल गया। नरेन्द्रने भी सूटकेसकी ओर ध्यान नहीं दिया। वह रिक्शा एक ओर खड़ा करके नयी सवारीकी प्रतीक्षा करने लगा। अचानक उसने देखा कि रिक्शेमें सूटकेस रखा हुआ है। वह हकबका गया। उसने सूटकेसको सँभाला तो पता चला कि उसमें ताला नहीं है। अतएव उसे खोलकर देखनेमें उसे असुविधा नहीं हुई। उसने ज्यों ही सूटकेस खोला—उसे सामने एक रूमालमें बँधे हुए कुछ नोट दिखायी दिये। उसने उस बंडलको खोला—उसके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा—तेईस हजार रुपयेके नोट उसमें बँधे थे! कुछ कीमती कपड़े भी सूटकेसमें थे। अब तो नरेन्द्रको चिन्ता हुई कि किसी भी प्रकार सूटकेसके मालिकको खोजा जाय। सूटकेसकी सँभाल करते हुए उसने पूरे बाजारके दो चक्कर लगाये, किंतु मालिकका कहीं भी पता न लगा।

तेईस हजार रुपये कोई कम नहीं थे। आजके भ्रष्टाचार एवं लूट-खसोटके युगमें अगर कोई दूसरा नरेन्द्र होता तो बड़ौदासे छूमन्तर होकर किसी बड़े शहरमें तरह-तरहके आमोद-प्रमोद करता। किंतु वह तो सच्चा 'नरेन्द्र' था। इतनी बड़ी रकम देखनेके बाद भी उसका चित्त चञ्चल नहीं हुआ। उसके मनमें इन रुपयोंसे भी कहीं अधिक ईमानदारीका मूल्य था। मालिकका पता नहीं मिलनेके कारण उसने नजदीकके पुलिस-स्टेशन—सयाजीगंजकी ओर अपना रिक्शा बढ़ाया। वहाँ पहुँचकर उसने पुलिस इन्सपेक्टर-के समक्ष २३ हजार रुपयेवाला सूटकेस पेश कर दिया और रिपोर्ट लिखवाकर वह अपने कामपर निकल पड़ा।

इधर सूटकेसके मालिकको जब ख्याल आया कि रिक्शेमें सूटकेस रह गयी है, तब उसके होश उड़ गये। एक घंटेके बाद रिक्शेवालेका पता कैसे मिल सकता था ? उसने नजदीकके पुलिस-स्टेशनपर जाकर रिपोर्ट लिखवा दी। एक घंटेमें सयाजीगंज-पुलिसस्टेशनसे शुभ समाचार मिला कि रिक्शा-ड्राइवरने वहाँ जाकर सूटकेस जमा कर दिया है।

सूचना मिलते ही सूटकेसका मालिक थानेपर उपस्थित हो गया। सूटकेसकी चीजोंका पूरा ब्योरा उसने थानेके अधिकारीको लिखवा दिया। पुलिस-अधिकारीको पूरा संतोष हो गया कि सूटकेस उसीका है। उसने आवश्यक लिखा-पढ़ी करके सूटकेस यात्रीको सौंप दिया। रुपयेसे भरा सूटकेस प्राप्तकर यात्रीका हृदय गद्‌गद हो गया। यात्री तथा थानेके सभी अफसर-सिपाही रिक्शे चलानेवालेकी ईमानदारीकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे।

—विनोदकुमार राय पुरोहित, एम. ए.

'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बनिये और बनाइये

(१) प्रतिवर्ष 'कल्याण'का मूल्य भेजनेकी बात समयपर स्मरण न रहनेके कारण वी० पी० द्वारा 'कल्याण' मिलनेमें देर हो जाती है, जिससे ग्राहकोंको क्षोभ होता है। इसलिये जो लोग भेज सकें, वे एक साथ रुपये भेजकर 'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बन सकते हैं—ऐसी योजना आठ-दस वर्षों पूर्व चालू की गयी थी। इस योजनाका लाभ उठाकर पर्याप्त संख्यामें लोग आजीवन ग्राहक बने थे। परंतु कतिपय कारणोंसे यह योजना गत दो-तीन वर्षोंसे स्थगित कर दी गयी थी। ग्राहकोंके आग्रहसे उसे पुनः चालू किया जा रहा है। एक साथ एक सौ पचीस रुपये देकर कोई भी 'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बन सकते हैं। इससे आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा, उनको प्रतिवर्ष 'कल्याण' मिलता रहेगा। आजीवन ग्राहकका देहावसान हो जानेपर उनके उत्तराधिकारीको भी 'कल्याण' उसी रूपमें मिलता रहेगा।

(२) जो लोग प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहें, उन्हें १५०.०० रुपये भेजने चाहिये।

(३) भारतवर्षके बाहर (विदेश) का आजीवन ग्राहक-मूल्य अजिल्दके लिये १५०.०० रुपये या ८ पौंड १० पैंस और सजिल्दके लिये १७५.०० रुपये या ९ पौंड ५० पैंस है।

(४) मन्दिर, आश्रम, पुस्तकालय, मिल, कारखाना, उत्पादक या व्यापारीसंस्था, क्लब या अन्यान्य संस्था तथा फर्मोंको भी आजीवन ग्राहक बनाया जा सकता है।

(५) चेक या ड्राफ्ट—'व्यवस्थापक, गीताप्रेस, पो०—गीताप्रेस (गोरखपुर)'के नामसे भेजना चाहिये।

सभी प्रेमी ग्राहकों एवं पाठक-पाठिकाओंसे हमारा अनुरोध है कि वे इस योजनाका लाभ उठावें और स्वयं तो आजीवन ग्राहक बनें ही, विशेष चेष्टा करके अपने परिचित सज्जनों, सगे-सम्बन्धियों, इष्टमित्रों आदिको भी आजीवन ग्राहक बनावें। ऐसा करके वे गीताप्रेसके सत्साहित्य-प्रचार-कार्यमें सहयोग प्रदान करनेके साथ-साथ उन सज्जनोंकी भी सेवा करेंगे। —व्यवस्थापक—'कल्याण'

श्रीऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू (राजस्थान)

इस संस्थाकी संस्थापना लगभग ५२ वर्ष पूर्व ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके प्रयत्नसे हुई थी। तबसे अबतक इसका कार्य सुचारुरूपसे चल रहा है। इसमें प्रवेश आदिके नियम इस प्रकार हैं—

प्रवेश-आयु—(१) आठसे ग्यारह वर्षतकके द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ब्रह्मचारी लिये जाते हैं।
(२) सोलह वर्षकी अवस्थातक ब्रह्मचारीको आश्रममें रखा जाता है।

पढ़ाई—संस्कृत—वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयकी प्रथमा परीक्षातक; अंग्रेजी—मैट्रिक (राजस्थान माध्यमिक शिक्षा-परिषद्); गीता—सम्पूर्ण (उत्तमा परीक्षातक); वेद—रुद्री, दण्डक, कर्मकाण्ड आदि।

संध्या अनिवार्य—ब्रह्मचारियोंके लिये उपनयन-संस्कारयुक्त होकर त्रिकाल-संध्या, गायत्री-जप तथा अग्निहोत्र करना एवं नियमित व्यायाम करना अनिवार्य है।

शुल्क—(१) ब्राह्मण, क्षत्रिय ब्रह्मचारीसे ३३.०० और वैश्य ब्रह्मचारीसे ३५.०० मासिक। इसमें शिक्षा, वस्त्र, औषध, भोजन, दूध आदि सबका व्यय सम्मिलित है। कम-से-कम छः मासका शुल्क अग्रिम देना पड़ता है। (२) ब्रह्मचारीके प्रवेशकालमें अभिभावकको १००.०० (एक सौ) रुपये जमानतके रूपमें जमा कराने पड़ते हैं, जो पूरी शिक्षा प्राप्त करके ब्रह्मचारीके आश्रमसे निकलनेपर लौटा दिये जाते हैं; किंतु ब्रह्मचारीको बीचमें निकालनेपर ये रुपये वापस नहीं किये जाते। छः मासतक ब्रह्मचारीको अस्थायी भर्तीमें रखा जाता है, तदनन्तर योग्य सिद्ध होनेपर स्थायी भर्तीमें ले लिया जाता है। अपने सुयोग्य बालकको इस आश्रममें भर्ती करानेकी इच्छा रखनेवाले महानुभावोंको चाहिये कि वे निम्नलिखित पतेपर पत्र-व्यवहार करें। ब्रह्मचारियोंकी भर्ती आषाढ़ शुक्ल ११, तदनुसार ३० जून, १९७४ तक की जायगी।

—मन्त्री, श्रीऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू (राजस्थान)